छायातप

रघुवंश

प्रकाशक

साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग

माँ की करुणा के

समक्ष

मेरा शिशु

विद्रोह

सूची

कहानी

कहानी कही जाती है। फिर उसे कोई बतायेगा कैसे! कहना तो कहना भर है। पर बताने में नाप-तोल कर, सीमाएँ बनाकर विश्लेषण द्वारा आगे बढ़ा जाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सभी चीज़ों को इन्हीं सीमाओं के माध्यम से समझने-समझाने को सब कुछ मानकर चलते हैं। यह समझना-समझाना भी अपना एक महत्व रखता है। पर जब कहने-सुनने की बात के लिए यही सब कुछ मान लिया जायगा, तभी अन्याय होगा। मैंने कहा—विश्लेषण और विभाजन की सीमाओं द्वारा समझना आवश्यक है; पर जो चीज़ 'कही' जाती है उसके लिए यही समझना सब कुछ नहीं है। इसीलिए मैं कहूँगा 'कहानी' को पूरा समझना तो उसका सुनना ही है। हाँ! जो 'कहना' चतुराई से बना सँवार कर कहा जाता है और कला की कोटि में आता है; उसके लिये सीमाएँ बनाकर चलनेवाला 'समझना' सहायक अवश्य होता है। पर 'कहना' सुनने को लेकर ही है और 'कहानी' का समझना उसका सुनना ही है। लेकिन जब लोग 'कहानी' के विषय में उसी 'समझ' के माप-दंड के आदर्शों को सब कुछ मान बैठते तब मुझे लगता है—कहानी के प्रति अन्याय हुआ—कहनेवाले के मन को समझने में भूल हुई।

कहानीकार ने कहानी कह दी—जो वह कहना चाहता था और जैसा वह कह सका। अब वह 'कहानी' के विषय में क्या कहेगा! जिन सीमाओं का उसे भान भी नहीं हुआ उन्हीं को बाँध-बूँधकर वह सामने कैसे ला सकेगा। परंतु देखता हूँ, एक परिपाटी चल निकली है—कहनेवाला अपनी सीमाओं का निर्देश करने लगा है, अपनी अभिव्यक्ति के रूप को समझाने का प्रयास करने लगा है। उसका एक कारण भी बहुत ही स्पष्ट है। आज का 'कहनेवाला'

अपने दृष्टिकोण में ऐसा कुछ व्यक्तिवादी हो उठा है कि उसे दूसरों को अपना 'कहना' सुनाने के लिए, पहले 'अपनी बात' कह देनी होती है। पर मैं सीधे सरल अर्थों में कहानीकार हूँ—और 'अपनी बात' को सामने रखने जैसी समझ जैसे मुझमें नहीं है। मैं चाहता था, यह भार अपने एक मित्र पर डालूँ—वे पढ़ने-लिखने के आधार पर समझने-समझाने के लिये पर्याप्त समझ रखते हैं। पर उनका समय अपने ही अध्ययन में ऐसा उलझ रहा है कि भूमिका रूप से भी कुछ लिखने की स्वतंत्रता उन्हें नहीं मिल सकी। अब देखता हूँ—वही भार जो मेरी शक्ति के बाहर है—मुझे उठाना पड़ रहा है।

मैं कहानी के विषय में लिखने बैठा हूँ—पर देखता हूँ यह सब मैं कर नहीं सकूँगा। सोचता हूँ—लिखना आरंभ करूँ 'कहानी क्या है?' लेकिन प्रश्न मन में ऐसा बढ़कर फैल जाता है कि समझ ही नहीं पाता हूँ कैसे लिखूं—किस क्रम से लिखूँ। और सब मिलकर लगता है, मैं कहानी की परिभाषा कर नहीं सकूँगा। देखता हूँ—कहानी के विकास के बारे में ही कुछ कह सकूं। पर युगों से कहानी चली आ रही है......वैसी की वैसी......बच्चे के जीवन से आरम्भ होनेवाली कहानी, विकसित होकर वृद्ध की मृत्यु में परिसमाप्त हो जाती है। फिर इस विकास को कहां से आरम्भ कर सकूँगा......और लगता है कहानी के विकास को उपस्थित करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। विचार करता हूँ—कहानी के विभिन्न रूपों का ही उल्लेख कर सकूँ। लेकिन जब विभिन्न रूपों की बात लेकर सोचता हूँ तो लगता है उनकी संख्याओं को सँभालना मेरे बस की बात नहीं......और घटना, वातावरण चरित्र तथा भाव की सीमाओं में ही बाँध देने से काम नहीं चलेगा। फिर लगता है 'कहानी' कहानी है, उसके रूपों की कल्पना असत्य है! कल्पित है!! कदाचित् 'शैली' को लेकर ही आगे बढ़ सकूँ। इसको लेकर जैसे मैं कुछ कह सकूँगा। लेकिन...केवल वर्णना, कथोपकथन, पत्र और आत्मकथन गिना देने से काम नहीं

चलेगा। फिर 'कहानी' के अनुसार, 'कहने' के ढंग के अनुसार बढ़ती हुई शैलियों की कल्पना कर लेना भी मेरे लिए असंभव है। और 'कहानी' जैसे भी कही जा सके, वही उसकी शैली है।

सब मिलाकर लगता है कहानी के विषय में प्रयास करके भी कुछ नहीं लिख सकूँगा। पूछा जा सकता है—'फिर मैं कहानी कैसे लिखता हूँ!' प्रश्न है 'मैं कहानी कैसे लिखता हूँ?' यह प्रश्न भी कैसा है! मैं समझता हूँ—मैं कहानी लिखता हूँ और बस ऐसे ही कहानी लिख लेता हूँ। यह तो सरल सी बात है। बिलकुल सीधी। लेकिन ठीक! मैं कहानी कह सकता हूँ, और कदाचित् कहानी की कहानी ही कह सकूँ। अब मन हलका है। लगता है, मुझे कुछ लिखना है, इसीलिए बँधकर नहीं लिख रहा हूँ। अब मैं समझता हूँ, मुझे कुछ कहना है और इसीलिए मैं कुछ कहना चाहता हूँ।

और मैं कहानी की कहानी कह रहा हूँ।

* *

माँ बच्चे को पकड़-धकड़ कर सुलाना चाहती है। वह बच्चे को अपनी गोद में दाबती हुई कहती है—"मेरा भइय्या राजा—वह चुप-चुप आँख मूँद कर लेट जायगा—और उसे मैं कहानी सुनाऊँगी।"

बच्चा कह उठता है—"कहानी! माँ कहानी!" और चुपचाप आँख बंद कर लेता है।

माँ बच्चे को थपकी देती हुई कहना आरम्भ करती है—"दो बिल्ली थीं।"

बच्चा रोक कर पूछता है - "माँ! बिल्ली?"

माँ थपकी देती धीरे-धीरे कहती है—"हाँ! बिल्ली थीं। जैसी अपनी है न।"

"माँ! बिल्ली—दो?" बच्चा जैसे रुकता हुआ समझ रहा हो।

"हाँ, दो बिल्ली थीं।" माँ कह रही है।

"हूँ," बच्चा जैसे समझ रहा हो।

"एक बिल्ली थी सफ़ेद।" माँ कह देती है।

"हूँ"; बच्चा कह देता है, सोचता है उसकी बिल्ली भी सफ़ेद ही तो है। बच्चे का मन एकाग्र होता जाता है—साथ ही उसे नींद भी आती जाती है।

"और दूसरी—दूसरी बिल्ली काली थी।" माँ आगे कहती है, लेकिन जैसे दिन भर की थकान माँ पर भारी होती जा रही है।

"हूँ," बच्चा गहरी हूँ के साथ-साथ जोड़ता है कि पास के घर की बिल्ली काली है। और उसके मन पर नींद छाती जा रही है।

* *

माँ की कहानी केवल इतनी है—'दो बिल्ली थीं। एक बिल्ली सफ़ेद थी और दूसरी बिल्ली काली थी। पर माँ की कहानी फिर भी कहानी ही है। बच्चा इस अपरिचित जगत् से परिचित हो रहा है। वह अभी अपने मन के चित्रों को अलग-अलग करके समझने में असमर्थ है। उसकी ज्ञानेन्द्रियों के सामने जैसे सब कुछ मिल-जुल कर फैला हुआ है। अपने चारों ओर फैले हुए वातावरण के साथ जैसे उसका अस्तित्व मिला हुआ है—धीरे धीरे वह अपने चारों ओर की चीज़ों को सीमित भेदों के आधार पर समझने लगा है—पर इस सब में उसके लिए अपरिचित ही अधिक है। धीरे धीरे वह वातावरण से परिचित हो रहा है। और अपने चारों ओर फैले हुए वातावरण के प्रति उसका आकर्षित होना—उत्सुक होना स्वाभाविक है।

फिर माँ इसी मनःस्थिति में कहानी सुनाती है। माँ को बच्चे को सुलाना है। वह थककर भी अपने चारों ओर से उलझा हुआ है। उसे नींद आ रही है, वह अनमना हो रहा है। पर उसके चारों ओर का वातावरण उसे घेरे हुए है। माँ जैसे समझती है, उसका बच्चा क्या चाहता है। बच्चा थका हुआ है, उसे नींद भी आ रही है पर चारों ओर की उलझन उसको छाए हुए है। माँ उसके मन में धीरे धीरे कल्पना की सृष्टि करती है। और उसको उसी वातावरण का

आधार देती है जिसके प्रति वह इतना व्यग्र था—उत्सुक था। बच्चे के मन में एक वातावरण का आधार बन जाता है और उसकी उत्सुकता बाह्य जगत् से हटकर कल्पना के प्रति जगने लगती है। पर बच्चे की कल्पना अभी बहुत धीरे चीज़ों को पकड़ पाती है—और वह थका है—उसे नींद आ रही है। बच्चा सो जाता, माँ अपनी भारी पलकों पर छाती हुई नींद को वरबस हटाकर अपने बिखरे हुए काम को समेटने के लिए उठ बैठती है। वातावरण की सूक्ष्मरेखा को लेकर भी यह कहानी है—कल्पना को आधार देने में, उसे आकर्षित करने में यह सफल कहानी है, और माँ सफल कहानीकार। यह एक कहानी है, कहानी का एक रूप है; और कदाचित् कहानी का विकास भी यहीं से आरम्भ होता है।

❀ ❀

बच्चा बढ़ रहा है।

माँ की कहानी रूप बदलती है। माँ कहती है—"एक था सिंह।"

"सिंह! माँ, सिंह था?" बच्चा आश्चर्य से पूछता है।

"हाँ एक जंगल था; और उसमें सिंह था," माँ कह देती है।

"हूँ! माँ! जंगल,...सिंह था।" बच्चा जैसे दोनों को मिलाकर कुछ सोचना चाहता हो।

"और एक लोमड़ी थी...उसी जंगल में," माँ बहुत धीरे-धीरे अपनी अन्य बातों को सोचती हुई अनायास कह रही है।

"हूँ!" बच्चा सोचता है जंगल में लोमड़ी थी।

और माँ की कहानी अब आगे भी बढ़ती है—"एक दिन सिंह ने बैल का शिकार किया।"

"हूँ," बच्चा समझ रहा है, वह अब समझदार है। उसकी बिल्ली चूहे का शिकार जो करती है—

और उसके सामने शिकार की घटना से जैसे सिंह भी कुछ व्यक्त हुआ हो।

* *

माँ की कहानी में—'सिंह ने बैल का शिकार किया।' और अब बच्चा अपने चारों ओर की वस्तुओं के साथ घटनाओं को भी कुछ कुछ समझने लगा है। और इतना ही नहीं, परिचित वस्तुओं और घटनाओं के आधार पर अपरिचित वस्तुओं की कुछ कुछ अस्पष्ट सी कल्पना भी कर लेता है। अब बालक की कहानी में उसकी कल्पना को आधार देनेवाली परिचित वस्तुओं के साथ घटनाओं का योग भी होता जाता है और साथ ही अपरिचित वस्तुओं की कल्पनाओं के प्रति आग्रह भी बढ़ता जाता है।

* *

बालक बढ़ रहा है।

माँ की कहानी बदल जाती है—"एक था राजा।"

"माँ राजा!" बालक बीच में रोकता है।

"माँ की कहानी आगे बढ़ती है—"हाँ, एक राजा था—और एक रानी थी।...उनके सात लड़के थे।"

"हूँ"। बालक समझता है, वह भी तो अपनी माँ का लड़का है और उसके भाई भी।

"एक दिन राजा ने सब से पूछा तुम किसके भाग से खाते हो। सब ने कहा राजा के...।"

"हूँ।" बालक पूरी तरह समझ ही रहा हो, ऐसा नहीं है।

"पर सब से छोटे लड़के ने कहा मैं अपने भाग से खाता हूँ। राजा ने गुस्सा होकर उसे निकाल दिया।"

"निकाल दिया! माँ वह फिर रहेगा कहाँ?" बालक समझने का प्रयास कर रहा था।

माँ ने जोड़ा—"वह लड़का--छोटा कुमार बहुत वीर था—उसने

राज जीत लिया।"

"हूँ।" बालक सोच रहा था—कुमार वीर था—उसने राज जीत लिया।

* *

माँ की कहानी का राजकुमार वीर था, उसने राज जीत लिया, राजा ने उसे निकाल दिया था। बालक की कहानी में घटना के आधार पर चरित्र भी मिलता जाता है। बालक के मन में घटना और वस्तुओं के साथ व्यक्ति (वस्तु के रूप में) और घटना का संबंध भी कुछ कुछ स्पष्ट होने लगा है। लेकिन उसके मन के लिए अभी चरित्र के साथ स्पष्ट और बड़ी घटना का संबंध ही उपस्थित होता है। और उसके लिए बड़ी घटना का अर्थ विचित्र घटना के समान है। अब अपरिचित की कल्पना के साथ विचित्र घटनाओं का संयोग भी हो गया, और लड़के की कहानी में परियों, देवों, राजकुमार तथा राजकुमारियों का प्रवेश होने लगता है।

* *

लड़का बढ़ रहा है।

अन्य कहानियों के साथ माँ की एक कहानी और भी है—"एक थी रानी...।"

"हूँ।" लड़के को लगता जैसे माँ इस कहानी को अधिक तन्मयता से सुनाती है—और भारी स्वर में आरम्भ करती है।

"रानी लेटे-लेटे देखती रहती—एक कोने में चिड़ा और चिड़िया ने घोसला बनाया है।"

"हूँ।" लड़का समझ कम पा रहा है, पर कुछ अनुभव कर रहा है जो अव्यक्त है।

"घोसले में चिड़िया के बच्चे थे।" माँ का स्वर भारी था।

"हूँ।" लड़का जैसे माँ की बात का अनुभव कर रहा हो।

"एक दिन चिड़िया मर गई, और चिड़ा के साथ दूसरी चिड़िया

आ गई।"

"चिड़िया मर गई—।" लड़के को लगा जैसे माँ का गला भर आया है।

"दूसरी चिड़िया ने बच्चों को ज़मीन पर गिरा दिया।"

"हूँ।" लड़का समझ रहा है उसको जाने—कैसा-कैसा अनुभव हो रहा है।

*   *

इस कहानी में माँ कुछ भावुक हो उठती है, इसमें माँ के हृदय की मौन अभिव्यक्ति है। लड़का अब बहुत कुछ समझ लेता है—समझने के साथ ही अपने भावों का भी अव्यक्त रूप से अनुभव सा करता है। माँ की कहानी से जैसे वह कुछ द्रवित हो उठता है—उसे लगता है जैसे वह माँ की बात समझ न पाकर भी अनुभव कर रहा है। इस तरह लड़का बढ़ता जा रहा है—और उसकी कहानी में उसके मानसिक विकास के साथ ही—वातावरण, घटना, चरित्र तथा भावों का मेल होता जाता है।

लड़का पढ़ने लिखने लगा है—उसे कहानी सुनने के लिए अब 'माँ' की आवश्यकता नहीं होती। वह अब किताबों में पढ़ लेता है। लड़के के मन में परिचित से आगे जानने की तीव्र उत्सुकता है। उसे लगता है, वह जो देख रहा है उसके आगे बहुत कुछ अपरिचित अज्ञात भी है। और वह आगेवाला अपरिचित वैसा कुछ नहीं है जैसा वह देखा करता है। वह देखता है, बहुत सी बातें मनुष्य नहीं कर पाता—वह स्वयं भी चाहते हुए नहीं कर पाता। लेकिन इन सब के प्रति उसके मन में तीव्र आग्रह है। और उनके प्रति उसका विचित्र विश्वास है।

*   *

इस मनःस्थिति में वह पढ़ता है।

परी राजकुमार को उठा ले जाती है—परियों के देश में सोने चाँदी के

महल थे—सदा फलने वाले पेड़...। हवा-पानी के साथ दैत्य प्रकट हो जाता है...दैत्य राजकुमारी को किसी अज्ञात महल में उड़ा ले जाता है...फिर एक राजकुमार आता है...उसके पास ऐसी टोपी है जिसके पहनने से वह अदृश्य हो सकता है...।...एक राजकुमार रास्ता भूलकर विचित्र वन में पहुँच जाता है...फिर एकाएक उसे एक महल मिल जाता है।

* *

इसी प्रकार कहानियाँ विचित्रता से भरी चलती रहती हैं—और लड़का जैसे अपने पूरे विश्वास के साथ पढ़ता रहता है। ऐसा नहीं कि बड़े लोग इन कहानियों को पढ़ते ही न हों। पर इन पढ़नेवालों में बहुत से लड़के जैसी मनःस्थिति के हो सकते हैं—और कुछ झूठी कल्पना का आनन्द लेने के लिए भी पढ़ते हैं; हमारे मन में समझते हुए भी झूठी कल्पनाओं के प्रति आकर्षण तो रहता ही है। पर बड़े लोग इन सारी कहानियों को उस अर्थ में कहानी नहीं मानते जिस अर्थ में लड़का लेता है। ये कहानियाँ उसके पूरे मनको आच्छादित कर लेती हैं, और वह इन कल्पनाओं को अपना सरल विश्वास दान भी करता है। इसी प्रवृत्ति के साथ लड़के में घटनाओं का आकर्षण बढ़ता जाता है। अब वह वातावरण से अधिक घटनाओं के प्रति उत्सुक हो उठता है, और उनके माध्यम से चरित्रों के प्रति भी। कहानी परियों और दैत्यों के देश से हटने लगती है—और उसमें जासूसी, ऐयारी की घटनाएँ प्रधान होती जाती हैं...लेकिन वातावरण की विचित्रता के प्रति मोह अभी बिलकुल ही कम नहीं हो सका है।

* *

वह मनोयोग से पढ़ता है।

ऐयार ने गोली पटक दी...धुआँ छा गया, शत्रु मूर्च्छित हो गया। ...अपने बटुए से रूप बदलने का सामान निकालकर ऐयार थोड़ी देर में सुन्दरी स्त्री बन गया...।...पैर पटकते ही पत्थर सरक गया और

ज़ीना दिखाई दिया...।...जासूस लौट गया...और एक सवार घोड़ा दौड़ाता हुआ निकल गया...। जासूस ने ध्यान से देखा...।

*   *

और इसी प्रकार कहानियाँ चलती रहतीं हैं। एक घटना के बाद दूसरी घटना लड़के के मन को खींचती हुई आगे बढ़ती जाती है—और वह स्वयं ही इन घटनाओं से घिरता जाता है। लड़का बढ़ता जाता है—और अब वह किशोर हो रहा है—उसे अपनेपन का भान अधिक स्पष्ट रूप से होता जाता है। उसे लगता है जैसे 'मैं' हूँ। इन पिछली कहानियों में उसका 'मैं' छिपे रूप में विकसित हो रहा था—पर अब उसका 'मैं' अधिक व्यक्त स्पष्ट होता जाता है। सारे विचित्र वातावरण और घटनाओं के बीच में लड़का अपने को अधिक महत्वपूर्ण पाता है। उसके मन में सभी चीज़ों को सभी सीमाओं को अतिक्रमण करने की भावना प्रबल होती जाती है। और उसका 'मैं' अब वीर है, एक अपराजेय योधा है जो अपने चारों ओर कठिनाइयों का निर्माण करके उन पर विजय प्राप्त करना चाहता है। अब किशोर होते लड़के को वीरता की कहानियों का अधिक मोह है। पिछली कहानियों में भी वीरता का रूप था। पर उनमें वह चारित्र, वातावरण और घटनाओं से अधिक घिरा हुआ था।

*   *

अब वह पढ़ता है।

राजकुमारी किसी गढ़ में बंदी है—राजकुमार शत्रुओं से घिरा हुआ है।...राजकुमार भटक कर छिपता हुआ बीहड़ जंगल में घूम रहा है...।...कोई वीर अकेले ही अनेक शत्रुओं को पराजित करता है...फिर वह अपने देश से निकाला हुआ घूमता फिरता है ...।...योधा किसी अज्ञात सुन्दरी राजकुमारी की रक्षा करता है...।

*   *

वह पढ़ता है...और उसे लगता है जैसे वह स्वयं ही सब करता

है। उसे कठिनाई, पराजय और दुःख की स्थिति में गर्व होने लगता है; और विजय की स्थिति में प्रसन्नता। इस प्रकार कहानी चलती रहती है, और लड़का उसके पात्रों के स्थान पर जैसे स्वयं ही सब कुछ करता रहता है। लड़का बढ़ता है, और पूर्ण किशोर हो जाता है। उसे लगने लगता है जैसे विचित्रता की दुनिया के प्रति उसका आकर्षण वैसा नहीं रहा। वह पढ़-लिख कर बहुत समझदार भी हो गया है। परंतु उसके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ विकास हो गया, जिससे उसे लगता है जैसे कुछ अज्ञात रहस्य उसे आकर्षित करता रहता है। उसके मन में लज्जा और संकोच बढ़ गया है। स्त्रियों के प्रति कुछ अज्ञात सा अस्पष्ट भाव उसके मन पर फैलता जाता है। और अब कहानियों में उसकी वीरता का केन्द्र जैसे कोई राजकुमारी है जिसे उसे मुक्त करना है। अज्ञात राजकुमारी का आकर्षण बढ़ता जाता है। पर धीरे धीरे किशोर समझदार होता जा रहा है...अब उसका मन विचित्र घटनाओं पर अधिक ठहर नहीं पाता। वह अपने ही चारों ओर जैसे कोई अज्ञात आकर्षण फैला हुआ पाता है।

* *

और वह उसी चारों ओर के आकर्षण को लेकर कहानी पढ़ता है।

राजेन और मोहन पड़ोसी हैं—वे दोनों साथ खेला करते। लड़का बड़ा होकर स्कूल जाता है...पर शाम को लड़की से मिलने को आतुर हो उठता है...। पर एक दिन लड़के को शहर जाना पड़ा, पढ़ाई के लिए...लड़की की आँखों में आँसू थे।

* *

लड़का का मन जैसे पाता उसके अन्दर का आकर्षण कहानी में फैलकर अधिक सम्मोहक बन गया है। नारी के प्रति जो मूक भावना उसके मन में अव्यक्त रूप से छाई रहती है...कहानी में जैसे वही मुखर हो उठती है, आवेदन करने लगती है। लड़का अभी अपनी

भावना में कोमल है और अस्पष्ट भी...इसीलिए कहानी की नारी का मोह भी उसे घेर लेता है। वह कहानी को उसी मोह के आवेग में पढ़ डालता है, और कह उठता है—"ओ ऐसा!" लेकिन वह देखता है...उसकी कहानी के प्रति बड़े काम काजी व्यक्ति केवल पढ़कर मुसकरा देते हैं।

धीरे धीरे किशोर युवक होता जाता है। नारी का आकर्षण प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता जाता है। वह जीवन में अधिक चतुर हो गया है। आकर्षण और मोह जितना प्रत्यक्ष है...उतना ही वह अपने भावों को छिपाने में भी समझदार होता जाता है। युवक जीवन की अन्य समस्याओं से भी परिचित हो रहा है। वह जीवन के संघर्ष और अपनी सीमाओं तथा बंधनों को समझ रहा है। इन संघर्षों और सीमाओं के बीच में भी युवक अपने 'अहं' को एक वीर योधा के समान लेकर चलता है। और नारी का आकर्षण भी उसके लिए सत्य है, स्पष्ट है। यह सब मिलकर उसके मन को विषम बना देता है। और उसी के समान उसकी कहानी भी विभिन्न प्रकार से सामने आने लगती है। सीमाओं के प्रति विद्रोह और संघर्ष के साथ ही युवक का 'अहं' अप्रत्यक्ष रूप से किसी आकर्षण से तृप्ति भी पाता रहता है। अब कहानी विषम हो उठती है और उसमें बहुत कुछ छिपा-छिपू कर कहा जाता है।

* *

नायक विद्रोही है—क्रांतिकारी है...देश-भक्त है...समाज-सुधारक है...।...वह जीवन में उतर पड़ा है...संघर्ष करता रहता है...प्रताड़ना सहता है...जेल जाता है—देश से निर्वासित होता है...फाँसी लटकता है...।...पर उसके जीवन के एक कोने से ज्ञात या अज्ञात रूप से नारी झाँकती रहती है...।...वह नारी उसका स्वागत करती है...और कभी उपेक्षा भी करती है...।...पर वह उस नारी से अलग नहीं हो पाता—।

❀ ❀

इस कहानी का बड़ा विस्तार है और इसमें विषमता भी बहुत अधिक है। और इसीलिए इसका आकर्षण युवक के जीवन से शीघ्र हटता भी नहीं। कभी-कभी युवक प्रौढ़ होकर वृद्ध हो जाता है। और कहानी इसी रूप में उसे घेरे रहती है। पहले इसमें रस लेता है। फिर इसके व्यंग से, इसकी उपेक्षा से एक कटुता का सुख पाता है। और अंत में कदाचित पिछली याद की खुमारी का अनुभव करता है। लेकिन कहानी यहीं समाप्त हो जाती हो ! ऐसा नहीं है। युवक जीवन के विषय में अधिक समझदार हो सकता है, और जीवन के संघर्षों में भी सम ला सकता है। ऐसी स्थिति में वह अपने 'अहं' को जान लेता है, और उसे लगता है वह अपने अन्दर को पहचानने लगा है। वह अपने मन को भी साफ़ देखने लगा है। फिर वह अपने आप का आलोचक हो उठता है। वह अपने मन को ही अधिक टटोलने लगता है। 'अहं' को समझ लेने से ही व्यक्ति अहंकार से अलग हो जाता हो, ऐसा तो नहीं, पर इस समझ के साथ कभी दूसरों के प्रति उदार हो उठता है और कभी अपने प्रति भी निर्मम। और फिर युवक की कहानी में मानवीय अन्तर्मन के चित्र अपनी विविधि रूप रेखाओं में आने लगते हैं...वह अपने सामने अपनी गुप्त अस्पष्ट भावनाओं को जैसे खुलता हुआ पाता है। पहले 'अहं' की प्रधानता के कारण जो एक सम्मोहन था, अब वह चेतना के भीतरी रूपों के ऊपर आ जाने से विभिन्न रूप धारण करने लगता है। और युवक अपने आप से आश्चर्य्य चकित रह जाता है। युवक सीधा-सीधा अपने को जिससे घिरा हुआ पाता था...वह सब जैसे किसी विचित्र प्रकाश से छिन्न-भिन्न होकर अपने स्वाभाविक रूप में आने लगता है। युवक अपने स्वस्थ मन से देखता है कि संसार में उसी को लेकर सभी कुछ नहीं है। सभी की एक अपनी सहज स्वाभाविक स्थिति भी है और उन सब का संबंध उससे विभिन्न प्रकार से है। फिर इस स्थिति में, युवक एक दार्शनिक जिज्ञासा से अपनी कहानी में जीवन, संसार, समाज

और राजनीति के प्रश्नों को पढ़ता रहता है। अब कहानी में युवक को मोह के स्थान पर प्रश्नों और समस्याओं के प्रति जिज्ञासा ही अधिक आकर्षित किए हुए है।

* *

और अब कहानी इस प्रकार चलती है।

मनुष्य जीवन का प्रश्न लेकर विकल है...। जीवन की हलचल में मानव मृत्यु की छाया देखकर चौंक पड़ता है...।--संसार क्या है? गति—क्रिया—संघर्ष।...फिर मानव अपने ही अर्थों में संसार की परिभाषा करता है...।...समाज के बंधनों की सीमा पर मानव क्यों रुका हुआ...आख़ीर जिस सीमा को उसने स्वयं ही बनाया है...उसी का बंदी वह स्वयं ही कैसे हो जाता है...।...एक क्षेत्र है जिसमें अपनी योग्यता का ढिंढोरा स्वयं पीटना होता है...जिसमें काम से अधिक उसका प्रचार करना होता है...और लोग उसे कहते हैं राजनीति!

इसी प्रकार ये कहानियाँ मानव जीवन और समाज, राजनीति और दर्शन को लेकर उनकी समस्याओं में फँसे हुए मनुष्यों के चारो ओर घूमती रहती हैं।

* *

साधारणतः कहानी की कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। पर मुझे लगता है जैसे कहानी कुछ और भी बढ़ती है। युवक पूर्ण मनुष्यता को प्राप्त कर जैसे गंभीर हो उठा है। वह जीवन पर विचार करने लगा है—विश्व के प्रश्न पर सोचने लगा है...और अब वह अपने साधारण अहं से अलग हो चुका है। इन प्रश्नों के सहारे वह विश्व में आत्मा को परिव्याप्त होते देखता है...आत्मा में विश्व को विलीन होते पाता है। फिर वह आत्मचेता व्यक्ति अपनी कहानी स्वयं अपने से कहने लगता है। वह कह उठता है—"अहंब्रह्माऽस्मि"—'बुद्ध की करुणा की शरण जाता हूँ।'—'दया स्वर्ग का राज्य है'। और इस प्रकार माँ की कहानी 'बिल्ली थी' यहाँ आकर जैसे समाप्त

हो जाती है। एक एक करके पहिचानने वाला बच्चा अब समग्र को पहिचान गया है।

*　　　　*

कहा जायगा—'यह भी कुछ हुआ ? इससे कोई क्या समझेगा।' पर मैंने कहा ही कब कि कुछ हुआ। यह तो कहानी है—हाँ केवल कहानी की कहानी। फिर इसमें यथा-तथ्य का क्रम कैसे निभाया जाता। कहानी तो अपनी कहने की सुविधा लेकर ही चलेगी...... वह किसी क्रम और सीमा की अपेक्षा क्यों करने लगी। यह तो कहानी की बात हुई ; अब प्रश्न उठता है मेरी कहानियों का। इन कहानियों में मेरा जैसा क्या कुछ है, मैं नहीं जानता। फिर भी कहानियाँ मेरी है; क्योंकि इन्हें कहनेवाला मैं हूँ। लेकिन पूछा जा सकता है कि इन कहानियों मं मेरा कहा जाने जैसा क्या केवल इतना ही है कि मैंने इन्हें कहा है। लगता है ऐसा तो नहीं है, इन कहानियों को 'मैंने कहा है' इससे अधिक भी इनमें कुछ मेरा है। और अपने कहने के ढंग के बारे में लिखने के पहले, मैं यह बता देना चाहता हूँ आख़िर वह 'कुछ' क्या है जिससे मैं कहता हूँ ये कहानी मेरी हैं।

आरम्भ से ही ऐसा लगता रहा है कि मुझे सुनने और पढ़ने से अधिक देखने से याद रहता है। और साथ ही अपनी कल्पनाओं को कहने में भी मैं चतुर रहा हूँ। जब मैं छोटा था, तभी से अपने से छोटे बच्चों को कहानी सुनानी पड़ती थी। सुनानी पड़ती ही हो ऐसा नहीं, वरन सुनाने का लालच भी कम नहीं था। और मैं कह चुका हूँ—मुझे सुनी बातें पूरे विस्तार में याद होती नहीं हैं। उस समय जब मैं कहानी कहने बैठता, तो जो कहानी आरम्भ करता उसका बहुत सा हिस्सा भूला ही रहता था। पर मैं अपनी ओर से जोड़कर कहानी चलाता रहता; और ऐसा करने में मुझे कभी हिचक नहीं हुई। जो बच्चे उसी कहानी को अम्मा या जीजी से पहले ही

सुन चुके होते; वे बीच में आक्षेप भी करते—"नहीं, भइय्या! दादा ऐसा कहा है।" मुझे कुछ कहने की जरूरत ही नहीं पड़ती, और सभी बच्चे इस आक्षेप का प्रतिवाद कर उठते—"इससे क्या? बड़े आए।" और मेरी कहानी चलती रहती। कहानी सुविधा के अनुसार छोटी बड़ी हो जाती, और रुचि के अनुसार उसमें नवीन कल्पना का योग कर दिया जाता।

मैं अपनी कहानियों का 'कुछ' बता रहा था जिससे वे मेरी कहानियाँ हैं। हाँ? ठीक ही तो, लेकिन इसी के साथ एक बात और कह दूँ। उन दिनों जब मैं १२ या १३ वर्ष का था...तो एकाएक लगा जैसे मैं उपन्यासकार बनना चाहता हूँ। आज सोचकर हँसी लगती है...पर उन दिनों यह बिल्कुल सत्य लगता था। अपनी कल्पना के आधार पर कहानियों को बढ़ा-घटाकर नया रूप देने का मेरा अभ्यास था, परंतु मेरी कल्पना के लिए देखी चीज़ों का आधार आवश्यक था। और बात यही थी—कहानी में जो मैं अपना मिला देता था वह अपने देखे के आधार पर ही। माना यदि कहानी में सागर का उल्लेख आया है तो मैं अपनी देखी हुई झील का कदाचित् वर्णन करता। हाँ? तो मेरी उपन्यास लिखने की इच्छा प्रबल होती गई। अब तक दो चार उपन्यास जो पढ़ सका था उन्हीं से प्रेरणा मिल रही थी। घर में उपन्यासों के प्रति घोर प्रतिबंध था—और केवल कुछ ऐतिहासिक उपन्यास आदि पढ़ने की इजाज़त मिल सकी थी... उनमें 'ऊषा काल' और 'करुणा' भी थे। परंतु चुरा छिपाकर 'चंद्रकांता' के भी कुछ भाग पढ़ चुका था, पूरा पढ़ने का अवसर तो फिर कभी नहीं मिल सका। एक आध अंगरेज़ी जासूसी उपन्यास भी इसी प्रकार पढ़ लिया गया था। और मैं इतनी सी जमा-पूँजी के बल एकदम उपन्यासकार बनने जा रहा था। गरमी की छुट्टी इस काम के लिए अधिक सुविधाजनक समझी गई, क्योंकि दोपहर को सभी सो जाते थे और मैं अपने काम के लिए स्वतंत्र था। बादामी कागज़ की एक

हिसाब की कापी उसके लिए ठीक ठाक की गई और अच्छी सी एक निब (Baverly) भी बाज़ार से खरीदी गई। और फिर उपन्यास लिखने का काम शुरू किया गया। ख़ैर प्लाट तो किसी प्रकार मिला-मिलू कर तैयार कर लिया गया...कुछ ऐतिहासिक जैसा...कुछ रहस्यात्मक सा—और उस पर 'चंद्रकांता' की छाया भी अवश्य होगी।

अब कठिनाई थी लिखा कैसे जाय? जो पूंजी थी वह प्लाट तक ही सीमित थी...और अब कठिनाई थी—लिखना शुरू कैसे किया जाय? पढ़े हुए उपन्यासों का स्पष्ट कुछ याद नहीं था......न भाषा न कथोपकथन। और यह तो मैं आज समझ रहा हूँ, उन दिनों तो बिलकुल मौलिक उपन्यास लिख रहा था। फिर समस्या थी उपन्यास आगे कैसे बढ़े। किसी प्रकार पहला अनुच्छेद आरम्भ किया गया... घटना-स्थल कोई गढ़ था, उसके वर्णन के लिए किसी प्रकार अपने देखे हुए एक गढ़ से काम चलाया जा सका। अपनी समझ से अपने निरीक्षण का पूरा उपयोग किया गया...सभी देखी चीज़ों का विस्तार से वर्णन किया गया...राजा रानी और कुमार की बातों को भी यथा संभव बढ़ाया गया। लेकिन अनुच्छेद समाप्त करके देखा कुल मिला कर आठ-सात पेज हो सके हैं। मैंने निराशा से कहा—यह तो जैसे कुछ हुआ ही नहीं। लेकिन उपन्यास किसी प्रकार आगे बढ़ा। दूसरे अनुच्छेद में घाटी के मार्ग का वर्णन था, और उसके साथ राजकुमार और उसके मित्र की बातचीत। पर यह तो कुछ भी नहीं हुआ—मेरे अक्षरों में चार पेज? इस प्रकार उपन्यास तीन चार अनुच्छेदों से आगे बढ़ा नहीं। उपन्यास की कथा के अनुसार आगे जो कुछ होना चाहिए...उसे तो उपन्यासकार ने देखा नहीं (पढ़े हुए उपन्यासों की बात उसे उतनी स्पष्ट याद नहीं थी)। फिर आगे लिखा जाय तो कैसे? काम कठिन से असंभव होता गया...और निराश होकर उपन्यास अधूरा ही छोड़ना पड़ा। इसका दुःख मुझे बहुत था—पर धीरे-धीरे बात पुरानी होकर भुला दी गई।

उपन्यास की बात तब समाप्त हो गई—पता नहीं उसका क्या हुआ। पर देखता हूँ जो उस अधूरे उपन्यास को लेकर सत्य था... वही मेरी कहानियों के इतिहास का भी सत्य है। एक भेद है—उपन्यास के समय लिखने की कठिनाई थी—देखे हुए के आगे बढ़ना मेरे लिए कठिन था। पर अब एक कठिनाई और थी—अपना देखा हुआ भी किसी के लिखे हुए ढंग से मिलता जुलता न हो। मेरी प्रतिज्ञा की सीमा यहीं तक नहीं थी कि वह लिखा हुआ मैंने ही पढ़ा हो। मुझे याद है कि मेरी प्रारम्भिक कई कहानियाँ इसीलिए नष्ट कर दी गईं कि किसी ने सुनने के बाद बता दिया...यह तो अमुक से मिलती है। बाद में पढ़ाई-लिखाई से मालूम हो सका कि ऐसी कहानी होती ही नहीं जो किसी भी अमुक से मिलती न हो। लेकिन मैं आज भी 'अपने देखने' से आगे नहीं बढ़ पाया हूँ, और मेरा यह 'देखना' मेरी कहानियों के 'कुछ' से संबंधित है। साथ ही मेरी दूसरी प्रवृत्ति ने भी मेरी कहानियों को कुछ अपनापन अवश्य दिया है।

अपनी कहानियों के 'कुछ' के विषय में एक बात और भी बतानी आवश्यक हो उठी है। बहुत पहले से किसी माने आलोचक के अनुसार मेरे मन में यह धारणा बन गई है कि कहानी में अपनी बात कहना बड़ी कला नहीं है। फलस्वरूप सभी कल्पना में उठनेवाले प्लाटों में अपने मन की खोज होती। और प्रारंभ में इसी प्रवृत्ति के कारण या तो कहानियाँ लिखी ही नहीं जा सकीं—या लिखकर भी उनको स्वीकार करने जैसा साहस नहीं हो सका। परंतु आज देखता हूँ—बिलकुल मौलिक कहानी लिखना असंभव है। और कहानीकार अपने को छोड़कर कहानी कहेगा कैसे? कहानी के प्लाट को लेकर एकांत नवीनता सोची नहीं जा सकती, फिर यदि कहानीकार अपने को छोड़ देगा तो कहानी में उसका अपना रहेगा क्या? कहानी के अन्दर कहानीकार लुक-छिप कर किसी न किसी प्रकार रहेगा ही। लेकिन मेरे इस दृष्टिकोण से मेरी कहानियों को कुछ मिला अवश्य है। हर

एक के जीवन में एक ऐसी स्थिति आती है जब अपने 'मैं' और उसके आकर्षण को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करने की प्रबल आकांक्षा होता है। इस मनःस्थिति में कहानीकार कहानी में अपने आकर्षण को फैलाकर 'अहं' की तुष्टि भर करता है। उसकी यह कहानी अधिकतर व्यापक दृष्टिकोण से सफल नहीं हो पाती, क्योंकि वह अपने आकर्षण में ही अधिक उलझा रह जाता है। परंतु कभी कभी महान कलाकार अपने इसी 'अहं' और उसके आकर्षण को भी सुन्दर अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत करने में सफल होता है। ऐसा करना साधारण प्रतिभा के लिए संभव नहीं, क्योंकि अपनी अनुभूति के आकर्षण के क्षणों में उसकी अभिव्यक्ति न तो व्यापक ही हो पाती है और न गंभीर ही। और मैं 'अपने' से बचने के प्रयास में कदाचित् इस सम्मोह और आकर्षण से बच सका हूँ। मैं यह नहीं कह सकता कि मेरी कहानियों में मेरा 'अहं' और आकर्षण है ही नहीं—पर मैं उसमें अपनी कहानी को भूला नहीं हूँ।

*   *

मैं कह रहा था—मेरी कहानियों में कुछ मेरा अपनापन है। मैं कह चुका हूँ—पढ़ने-सुनने से अधिक मुझे देखने से प्रेरणा मिलती है। किसी वस्तु या स्थिति को देखकर मैं अधिक समझ पाता और उससे अनुभूति भी ग्रहण कर पाता हूँ। पढ़ने या सुनने को लेकर न तो मैं कुछ स्पष्ट अनुभव ही कर पाता हूँ और न लिखने के लिए प्रेरणा ही पाता हूँ। कहानी को लेकर तो मेरी यही कमज़ोरी मेरा सत्य है। यही कारण है कि मेरी प्रत्येक कहानी का कुछ प्रत्यक्ष आधार रहा है जिसे मैंने देखा है, जिसका मैंने अनुभव किया है। मेरे इस देखने का और अनुभूत करने का आधार अलग अलग रहा है, और साथ ही कहानियों का दृष्टिकोण भी भिन्न है। इस विषय में यह आवश्यक नहीं है कि जिस रूप में कहानीकार को प्रेरणा मिली हो—कहानीकार उसी आधार पर कहानी का विकास भी करे। हो सकता है कहानीकार

को परिस्थिति से प्रेरणा मिले—और वह उसे चरित्र के माध्यम से अभिव्यक्त करे। संभव है उसे चरित्र से प्रेरणा प्राप्त हो और वह कहानी में भाव को ही अधिक संवेदनशील बना दे। यह भी सत्य है, भाव से उसे अनुभूति प्राप्त हो और वह उसको चरित्रों के माध्यम से कहानी के चरम तक पहुँचावे। परंतु मैंने अपनी प्रेरणा की प्रमुख संवेदना के प्रति इमानदार रहने का भी प्रयास किया है। और मैंने प्रमुखतः अपनी प्रेरणा को ही विकसित करके कहानी का रूप दिया है। इसको एक प्रकार से अपना मोह ही कहा जा सकता है। परंतु मैंने ऐसा किया है—इससे अधिक इसके बारे में कहा ही क्या जा सकता है। वस्तुतः 'पत्थरों पर चाँदनी' नामक कहानी पहले 'इंसानियत' के नाम से लिखी गई थी, उसमें कहानी का चरम चरित्रों के विकास में था। पर बाद में इसी दृष्टिकोण के कारण इसको वातावरण के आधार पर बदल दिया गया है, क्योंकि इसकी प्रमुख संवेदना लेखक को वातावरण के रूप में ही प्राप्त हुई थी। इसी प्रकार का परिवर्तन 'घर का रास्ता' में हुआ है। इसका अपवाद 'सुख की कल्पना' है, क्योंकि इसकी प्रेरणा चरित्रों से ही मिली थी, पर कहानी तर्क के आधार पर बिचारात्मक हो उठती है।

मैं अपनी कहानियों के 'कुछ' के विषय में ही लिख रहा था। और मैंने कहा—मैंने अपनी कहानियों में अपने 'अहं' और उसके 'आकर्षण' से अलग ही रहने का प्रयास किया है। ऐसी बात नहीं—मैंने उस प्रकार कुछ लिखा ही न हो; लिखा है...पर उन कहानियों को लिखने के मोह के आगे नहीं बढ़ने दिया। मैं सबूत दूँ—ऐसी आवश्यकता नहीं मानता; पर यदि इस विषय को लेकर किसी को सहज कौतूहल ही हो—तो मैं अपनी उन कहानियों को दिखा भी सकूँगा...और चाहने पर विश्लेषण के साथ समझा भी सकूँगा। लेकिन अब मैं अपने मोह का अर्थ अपने व्यक्तित्व के रूप में समझने की भूल नहीं करता। मैं प्रत्येक कहानी में हूँ—परंतु मैंने अपने को किसी चरित्र के

साथ मिलने नहीं दिया है। मैं मानता हूँ—मैं अभी चला ही हूँ—मैंने अभी आरंभ ही किया है। पर यह तो निश्चित है कि मैं यथा-संभव अपनी कहानियों में चरित्र, घटना या भाव से संबंधित नहीं हूँ। लेकिन वातावरण में फैला हुआ मैं, अपनी सभी कहानियों में ढूंढ़ा जा सकता हूँ। और वहाँ लगता है, मैं अपने को नहीं छोड़ पाया हूँ। इस विषय में मेरी अपनी कमज़ोरी भी है ..चरित्रों के विषय में कहीं लगता है मेरी जानकारी आगे नहीं बढ़ रही है। मैं इसके लिए लज्जित नहीं हूँ—संसार में अनंत चरित्र हैं और जानकारी जानते जानते ही बढ़ती है। परंतु मैं अपने चरित्रों के मनोविज्ञान के प्रति जागरूक भी अधिक हूँ...ऐसी स्थिति में चरित्र के गैपों Gaps) को अपनी ओर से वातावरण के माध्यम से पूरा करता हूँ। पर यह सभी कहानियों के बारे में नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसे चरित्रों को नहीं लिया गया है जिनका मनोविज्ञान मेरे लिए बिलकुल प्रत्यक्ष न हो।

भावों के क्षेत्र में भी लेखक ने अपने को—अपने मोह को अलग रखा है। और इसी कारण कहानियों में अधिकतर ऐसी ही भावस्थितियों को लेकर चला गया है जिनमें किसी प्रकार का उद्वेग या आवेग नहीं है। कहानियों में जो मनोभावों का इतना अधिक आवेगपूर्ण प्रवाह दिखाई देता है, वह मैं समझता हूँ लेखक के अपने यौवन के मोह से अधिक संबंधित है। स्वाभाविक रूप से भावनाओं का विकास बहुत धीरे धीरे अस्पष्ट सा होता रहता है। ये अस्पष्ट भावनाएँ संवेदनशील होते हुए भी हलकी हुआ होती हैं; और इनमें परिस्थिति के अनुसार, संबंधों के अनुसार परिवर्तन भी होते रहते हैं। हमारे रोमांटिक मित्र कहेंगे—'प्रेम में परिवर्तन' प्रेम-संबंध में धीरे धीरे मिटने का भाव! यह कैसी बात है? यह कैसा उलटा सत्य है!! प्रेम तो अमर है—अपरिवर्तनशील है।' मैं कहता हूँ विचार कीजिए, दुनिया के सत्य को देखिए। फिर प्रेम की अमरता को लेकर यह मोह है ही

क्यों ? भाव तो मानवता के साथ सभी अमर हैं...रही वस्तु की बात वह तो बदलेगी...बदलती ही रहेगी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि दो व्यक्तियों के प्रेम-संबंध की लंबी सीमा नहीं होती; वह जीवन भर रह सकता है और रहता भी है। लेकिन वह प्रेम आवेग नहीं— और न कोई आवेश ही है...वह तो संबंधों की स्थिरता जैसी कोई चीज़ हो सकती है। यह सत्य है, लेकिन साथ ही यह भी सत्य है...जीवन में एक ऐसी स्थिति भी होती है जब प्रेम जैसी किसी भावस्थिति का आवेग या ज्वार सा आता है; और उसी में किसी घटना को अधिक महत्व देकर जीवन के करुण-अवसान (Tragedy) भी होते हैं। पर इससे प्रेम की अमरता सिद्ध हो जाती हो ऐसा तो नहीं। 'मौत का फ़्लाव' में, प्रेम संबंधी किसी आवेगपूर्ण 'अह' के तीव्र आकर्षण में किस प्रकार जीवन व्यापक करुण-अवसान की भावना से भर जाता है यह प्रत्यक्ष करने का प्रयास किया गया है। साधारण प्रेम-संबंधी कहानियों के पाठकों को भ्रम होता है कि राजकुँअरि मौला को प्रेम करने लगती है। यदि भ्रम हुआ ही, तो वह बिलकुल असत्य है ऐसा लेखक कैसे कहेगा। लेकिन इतना मैं अवश्य कहूँगा प्रेम को जैसी सीधी रेखा में लोग समझना चाहते हैं वैसा होता नहीं। मैं पूछता हूँ--क्या जीवन में ऐसी स्थिति नहीं होती जिसमें 'है' या 'नहीं है', दोनों ही अस्पष्ट रहें। क्या दुनिया में सब साफ़-स्पष्ट ही होता है। मुझे लगता है जीवन का बहुत सा भाग इन अस्पष्ट भावनाओं से ही भरा है...फिर लेखक पर ही क्यों यह बोझा, कि वह सब कुछ साफ़ स्पष्ट समझाकर ही कहे। वस्तुतः यह भ्रम प्रेम को लेकर कुछ गलत धारणाओं के कारण ही है।

मेरी कहानियों में रुकी हुई भाव-स्थिति में जो सारी भाव-धारा केन्द्रित करके गंभीर की गई है--वह इसीलिए—जिससे जीवन के किसी आवेग में स्वाभाविक मनोभावों का रूप न बिगड़ सके। कुछ अन्य कहानियों के अतिरिक्त 'बाबुलि मोरा नैहरवा छूटो जाय' में भी

इसी प्रकार की भाव-स्थिति में कहानी प्रस्तुत की गई है। कारण यह है कि जिस कोमल भावना को उपस्थित करना है और जिसके आधार पर जीवन का करुण-अवसान (Tragedy) दिखाना है...वह साधारण घटना-क्रम में व्यक्त नहीं हो सकती थी। साधारण स्थिति में लोग अपनी बँधी भाव-धार से कहानी आरंभ करते...और घटना-क्रम में उसी के अनुरूप कहानी की भावना का अर्थ लगाते जाते। और अंत में कहानी को प्रेम-संबंधी करुण-अवसान में परिसमाप्त मान लेते। कहानी में भारतीय कन्या का अपने घर का स्नेह और उसकी कोमल कल्पना का रूप सामने नहीं आ पाता, जिसके आधार पर ही वस्तुतः कहानी करुण-अवसान की ओर बढ़ी है। ऐसी स्थिति में भी लोगों को भ्रम होता ही है। एक साहब ने कहानी सुनने के बाद पूछा था—'क्या मोहन अनुराधा का प्रेमी था?' उनके प्रश्न से ही प्रकट है कि उन्हें भी यह विश्वास तो नहीं हो सका कि मोहन और अनुराधा प्रेमी ही हैं। पर मैं उत्तर देता ही क्या? और जब किसी के मन में स्त्री और पुरुष के प्रेम और संबंध का रूप एक ही आता हो; तो उसे समझाया जायगा भी कैसे? कठिनाई है, लोग प्रेम को व्यापक अर्थों में लेना भी नहीं चाहते और उस संबंध को जिसमें कुछ गंभीरता और आकर्षण हो प्रेम के नाम से पुकारे बिना रहते भी नहीं। और यदि कहीं रूढ़ि की सीमा पार हुई तो आदर्श की दीवाल सामने टकराने को आ जाती है। लेकिन मुझे लगता है दुनिया में बिलकुल ऐसा होता नहीं, केवल माना जाता है।

मैं कह रहा था प्रेम को लेकर कुछ ग़लत धारणाएँ हैं। मैं कहता हूँ हमारे संबंध, हमारे आकर्षण किसी सीमा की रेखाओं में घेरे नहीं जा सकते। हमारे कुछ मित्र इस प्रकार सोचने के अभ्यस्त हैं...'स्त्री पुरुष के सामने समर्पण करती है—और उसके जीवन का यही समर्पण, एकांत समर्पण पुरुष की शक्ति है...क्रिया-शक्ति है।' कुछ इसी प्रकार की भाव-धारा आदर्श के रूप में स्वीकृत होकर चली भी आ रही है।

मुझे लगता है—यह बात अब विशेष आकर्षण नहीं रखती...इसमें केवल रूढ़ि का पालन और झूठा गौरव है, जिसको अपनी मनोवृत्ति के कारण पुरुष मानता चला आ रहा है...और कदाचित् छोड़ना भी नहीं चाहता। हमारे एक मित्र ने एक बार क्लब में प्रश्न किया था—'आख़ीर जब व्यक्ति समाज का होकर जीवित रहेगा...वह समाज की पूर्णता में अपनी पूर्णता पायेगा, तो नारी का क्या होगा? उसके कोमल आत्म-समर्पण की परिणति क्या होगी?' उपस्थित सदस्य सभी पुरुष थे...और सभी जैसे मौन-भाव से पूछ उठे—'हाँ ठीक ही तो? आख़ीर नारी का क्या होगा?' यहाँ तक कि जिनसे प्रश्न किया गया था...उन्होंने भी उसके विरोध में कोई बात कही हो, ऐसा मुझे नहीं लगा। पर मुझे यह प्रश्न उस दिन भी विचित्र लग रहा था...और आज भी वैसा ही लगता है। यह तो पुरुष का, विशेषकर भारतीय पुरुष का मोह है—'ओऽ! नारी इतनी आधीन! इतनी निरीह—अधिकार प्राप्त उपभोग्या—स्वेच्छा से रहनेवाली दासी!! उसका होगा क्या? पुरुष बिना उसकी गति क्या होगी?, लेकिन मेरे सामने तो पुरुष पुरुष है और नारी नारी है। यदि पुरुष पुरुष रहकर ही समाज की पूर्णता में अपनी पूर्णता मान सकेगा, तो नारी भी नारी रहकर ही ऐसा क्यों नहीं कर सकेगी। और यदि उस विकास में पुरुष को नारी की आवश्यकता होगी, तो नारी भी पुरुष की आवश्यकता मान लेगी। रही एक नारी और पुरुष के संबंध की बात...तो यह बहुत कुछ चरित्र और परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न संबंधों और भावों पर निर्भर है। हो सकता है और नहीं भी हो सकता है...होता भी है और नहीं भी होता है। फिर एक को ही आदर्श कैसे मान लिया जायगा, जब आदर्श भी भिन्न २ माप दंड रखते हैं।

एक दूसरी विचार-धारा के लोग हैं—वे मनोविश्लेषण की बात लेकर बहस करते हैं। 'स्त्री-पुरुष के जितने संबंध हैं वे सभी यौन-भाव से संबंधित हैं' और यही वे घुमा-फिरा कर सिद्ध करना चाहते

हैं। लेकिन मैं कहूँगा—या तो यह कुछ बात ही नहीं हुई...और या तो असत्य है। यदि इसका अर्थ है—स्त्री-पुरुष में आपस में आकर्षित करने की शक्ति है, और उनके सारे जीवन का विकास इसी आकर्षण को लेकर होता है। तब मैं कहूँगा, यह तो ऐसा ही कहना हुआ कि स्त्री स्त्री है और पुरुष पुरुष है। लेकिन यदि वासना के अर्थ में, अवस्था विशेष की शारीरिक आवश्यकता को लेकर उत्पन्न होनेवाली भाव-स्थिति की ओर संकेत है—तो यह ग़लत है। यह मेरा अपना ही मत नहीं है...फ्रायड बहुत पीछे पड़ चुके हैं और मनोविज्ञान मनोविश्लेषण में बहुत आगे बढ़ चुका है। रही मेरी अपनी बात—मेरा अनुभव इतना नहीं जिसके आधार पर सिद्धान्त उपस्थित कर सकूँ। लेकिन मैं मानता हूँ मानव-चरित्र विषम और विभिन्नता पूर्ण है...उसमें किसी एक नियम को लेकर सब कुछ नहीं कहा जा सकता। पुरुष और पुरुष के संबंधों का आधार सम है फिर भी उनमें अनेक और विभिन्न संबंधों की कल्पना की जा सकती है। उसी प्रकार नारी और पुरुष के आकर्षण पर आधारित संबंधों की कल्पना अनेक प्रकार से की जा सकती है...और वस्तुतः ऐसा ही होता है। जीवन के विकास के लिए इनका होना सहज और स्वाभाविक है।

इतना कहने के बाद, मैं देखता हूँ मेरी कहानियों का अपनापन बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। अंत में एक बात का उल्लेख आवश्यक जैसा लगता है। चरित्र दूसरों से संबंधित होकर अपने आप से भी संबंधित होता है। यह संबंध अधिक स्पष्ट नहीं होने पाता। अधिकांश चरित्र जीवन में एक सीधी रेखा में आगे बढ़ने लगते हैं; उनके अंदर, उनके चरित्र में जो विभिन्नता दिखाई देती है वह परिस्थिति-जन्य ही होती है। परंतु जो व्यक्ति अपने संस्कारों में अधिक विकसित और संवेदनशील होते हैं, उनमें चरित्र का विषम रूप भी होता है...वे अपने अन्दर के विरोधी-भाव को समझते हैं। और आगे बढ़ने पर यही विरोध चरित्र में बराबर सा होता जाता है...और

व्यक्ति के अन्दर दो समानान्तर से चरित्र चलते हैं। इस प्रकार के चरित्रों को लेकर बहुत से उपन्यास और कहानियाँ (विशेषतः पश्चिम में) लिखी गई हैं। पर इस विषय में मेरा अपना मत और अनुभव है। यद्यपि यह संभव है कि किसी चरित्र में दो विभाजित अहं (Diveded-self) सामानातन्र एक आधार पर चलते हों...पर ऐसा सदा नहीं हो सकता। मानसिक विषमता इसके आगे भी बढ़ जाती है। विभाजित अहं के दोनों चरित्र एक दूसरे पर प्रतिक्रियाशील होते हुए एक दूसरे में प्रसरित (Extended) भी होते हैं...और हो सकते हैं। अहं का एक चरित्र अपने विकास में दूसरे से प्रभावित होता चलता है और दूसरा इसी प्रकार पहले से। उनका बिलकुल स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता...और इस प्रकार वे दोनों चरित्र अपनी विषमता में भी एकाई ही बने रहते हैं। यह भावों की स्थिति अपनी विषमता में अस्पष्ट ही रहती है। पूछा जा सकता है—कहानीकार इसको उपस्थित कैसे करेगा? यह तो कहानीकार की अपनी शक्ति पर है। इस प्रकार का प्रयास 'कल्पना की छाया में' चरित्रों के विषय में, मैंने किया है।

* *

अब केवल इतना कहना और है कि मेरी कहानी किस प्रकार कही गई है। मैंने कहा है कहानी कही जाती है, और इसीलिए कहानीकार जिस प्रकार अपने को सबसे अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकेगा, उसी प्रकार कहेगा। इसी कारण कहानी के अनुसार कहने का ढंग भी बदल सकता है। मैंने जो कुछ अपनी कहानियों के विषय में कहा है वह एक सीमा तक मेरे कहने के ढंग को भी प्रभावित करता है। मैं स्वयं नहीं जानता, मैंने कहानी कैसी कही है। जिस संवेदना ने कहानी को प्रेरणा दी है, उसी ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम भी स्वयं ढूँढ लिया है। और अब मैं देखता हूँ—प्रत्येक कहानी संवेदना की शैली में ही कही गई है। चरित्र अपने विकास का मार्ग कथोपकथन से

ढूँढते आगे बढ़ते हैं—केवल लेखक को चरित्र का हल्का विश्लेषण भी देना पड़ा है। दार्शनिक सत्य तर्क का आश्रय लेता चलता है—और उसी के प्रवाह में चरित्र डूब जाते हैं। वातावरण का निर्माण स्वयं कहानी के चरित्र और घटनाओं को छिपाए फैला रहता है, और कहानी वैसे ही चलती रहती है। जहाँ चरित्र की भाव-स्थिति रुकी हुई है, ऐसी कहानियों में मनःस्थिति और वातावरण को समानान्तर प्रस्तुत करके कहानी कल्पना, छाया, और स्वप्नों के रूप में चली है। शैली के दृष्टिकोण से पत्र-शैली में आत्मकथन-शैली से अधिक सहजता और निकटता रहती है। आत्मकथन में 'मैं' सचेष्ट होकर ही अपनी बात कहता है और इसलिए उसमें सँभलकर कहने की प्रवृत्ति के साथ आत्मगौरव की छिपी भावना भी रहती है। दूसरे के सामने कुछ कहने में अहं सचेष्ट हो ही जायगा। लेखक कहानी से अपने को अलग कर सकता है, पर पात्र के 'अहं' को तो नहीं छोड़ सकता, नहीं तो आत्म-कथन शैली की विशेषता कहाँ रह जायगी। वह तो ऐसा ही हो जायगा जैसे लेखक पात्र से ज़बरदस्ती स्वीकार करा रहा है। पर पत्र-शैली में सहानुभूति और निकटता के वातावरण में 'मैं' अधिक स्पष्ट और मुक्त हो उठता है। मैंने इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इस शैली का प्रयोग किया है।

'घर का रास्ता' नामक कहानी की शैली कुछ अधिक विषम लगती है। यद्यपि इस प्रयोग का मूल 'बाबुलि मोरा नैहरवा छूटो जाय' और 'मौत का ख़्वाब' में ही है। परन्तु इन दोनों कहानियों में चित्र, विचार के आगे कल्पना-चित्रों से शुरू होकर क्रमशः स्वप्नों में डूब जाते हैं। इनमें पात्रों की मनःस्थिति इस योग्य नहीं कि वे विचार कर भी सकें। लेकिन इस कहानी में पात्र पूर्ण स्वप्न की स्थिति में नहीं जाता। पहले उसकी विचार-धारा में कल्पना के बहुत हलके चित्र आधार भर प्रस्तुत करते हैं। धीरे-धीरे विचार के भारीपन के साथ कल्पना चित्र अधिक प्रत्यक्ष होते जाते हैं। आगे चलकर नींद के

भारीपन में कल्पना-चित्र रह जाते हैं—विचार केवल उन चित्रों को समझने भर का जैसे साथ देते हैं। यहाँ पर याद रखना है कि युवक अपनी यात्रा में पूरी तरह सो बिलकुल नहीं सका, हाँ तंद्रा में कहा जा सकता है। इन सब के साथ, इस कहानी तथा अन्य भी इसी प्रकार की कहानियों में, पात्र और वातावरण में सामञ्जस्य उपस्थित रखने का पूरा प्रयास लेखक करता है।

* *

कुछ लोग पूछना चाहेंगे—पूर्व और पश्चिम की कहानियों के आदर्श के संबंध में मेरा क्या मत है! यद्यपि आज की हमारी कहानी आधुनिक योरप की कहानी से ही प्रभावित है, परंतु दोनों सीमाओं में अपना सांस्कृतिक भेद है। और इस कारण हमारी कहानी तथा योरप की कहानी में एक सूक्ष्म भेद मूलतः है। एक बार ऐसा प्रश्न सामने आया था—और मैंने एक कहानी कही थी—मैं कहानीकार ही तो हूँ। वही कहानी संग्रह की पहली कहानी है।

* *

सब कुछ कहने के बाद मैं सोचता हूँ मेरी कहानी कैसी है। मैं किसी भी कहानी को लेकर उसके साथ महीनों रहा हूँ। और कभी कभी ऐसा भी लगा है—मैं अपने जीवन से अधिक कहानी के जीवन में पहुँच गया हूँ। और उस समय, कहानी लिखने के पूर्व मैं समझता रहा हूँ मेरी कहानी सप्राण होगी – महान् होगी। पर जब किसी प्रकार वह काग़ज़ पर उतार ली जाती है, तब तो लगता है जैसे कहानी में प्राण हैं ही नहीं, कहानी तो कुछ हुई ही नहीं—यह तो जो मैं अनुभव कर रहा था—उसका कंकाल मात्र है। कभी-कभी मैंने फिर लिखने का प्रयास भी किया—पर सब प्रकार से निराश ही होना पड़ा है। फिर दूसरी कहानी घेर लेती है—और उसे मैं सप्राण और महान रूप में देखने लगता हूँ—पर अंत में उसका भी यही हाल होता है। लेकिन फिर मैं संतोष करता हूँ। अगर किसी दिन मेरी कोई कहानी मेरे प्राणों

से ज्यों की त्यों उतर आई तो कदाचित् दूसरी का मोह भी छूट जायँ। मुझे याद आता है जब मैं बहुत छोटा था...एक बार अपने चारों ओर झुके हुए आसमान को देखकर उसे पड़कने की इच्छा हुई। मैं बढ़ा आगे बढ़ता गया—पर क्षितिज पीछे ही हटता गया—और मैं निराश होकर भी आगे बढ़ता गया। आज समझता हूँ वह मूर्खता थी—पर लगता है यह जीवन का सत्य है—और मेरी कहानियों का भी। फिर कैसे कहूँ—मेरी कहानी मुझे कैसी लगती है।

हमारी कहानी

दो व्यक्ति में किसी विषय पर बहस चल रही थी। एक ने फैसला करने जैसी उत्सुकता से कहा—"मैं पश्चिम के एक कलाकार की कहानी कहता हूँ, जो दुनिया की सब से छोटी कहानी होकर भी कला की दृष्टि से पूर्ण है।

'फ्राँस में किसी ट्रेन पर दो अपरिचित यात्री एक ही कम्पाटमेंट में यात्रा कर रहे थे। एक ने एकाएक दूसरे से पूछा—'महाशय! आप प्रेत पर विश्वास करते हैं।' दूसरे ने समाचार पत्र से आँख उठाकर जवाब दिया—'नहीं महाशय! निश्चय ही नहीं।' इस पर पहले ने आश्चर्य से कहा—'अच्छा? ऐसा!' और उसी क्षण वह अदृश्य हो गया।"

कुछ क्षण चुप रहकर उसने कहा—"इस कोटि की कहानी आप अपने साहित्य में दिखा सकते हैं।"

दूसरे व्यक्ति ने बिना उत्साह के कहा—"आप का क्या मतलब है; मैं नहीं समझा?"

एक तीसरा व्यक्ति जो अब तक चुप चाप बैठा था जैसे कुछ समझ नहीं रहा हो, एकाएक बोल उठा—"भाई कला की बात मैं नहीं

जानता। पर मुझे एक कहानी याद है। उन दिनों मैं कोई सात बरस का था और दादी भी जीवित थीं।

'हाँ। बालक जब दिन भर खेल कूद कर थक जाता, वह अँधेरे में अपने को बटोरकर दादी के पास जा घुसता, और गले से चिपटकर कहता—माँ ? कहानी ?' दादी टालती—'सो जा ! सो जा।' बालक कहता—'हूँ। नहीं माँ एक।' दादी थपकी देती जाती, बालक हुँकारी भरता जाता और कहानी—"

बीच में पहला व्यक्ति रोकता—"ओह ! यह भी कोई कहानी है।

"हाँ तो दादी कहती—एक था राजा, सात समुन्दर पार उसका राज था। और उसके एक राजकुमारी थी—सुन्दर जैसे चाँद। उस राजकुमारी को कहानी बहुत भाती। राजा ने सातो द्वीप ढिंढोरा पिटवाया; जो राजकुमारी को कभी न खतम होने वाली कहानी सुनाएगा, वह राजकुमारी को ब्याहेगा और उसे आधा राज मिलेगा। देश देश के राजकुमार आए, लेकिन उनकी कहानी समाप्त हो गई और राजा ने उनके सिर कटवा लिए। बहुत दिनों बाद एक बहुत सुन्दर राजकुमार आया। राजा ने उसे मना किया, पर वह न माना। रात हुई राजकुमार ने राजकुमारी को कहानी सुनाना आरम्भ किया। कहानी धीरे-धीरे चल रही है, बालक हुँकारी भरता जाता है, और धीरे-धीरे उसे नींद आ रही है।"

पहले व्यक्ति ने ऊबकर कहा—"यह भी कोई कहानी हुई।"

दूसरे ने रोका—"सुनिए भी।"

तीसरे ने उत्तर दिया—"मैं नहीं जानता—कहानी है कि नहीं, पर सुनने के लिये धैर्य चाहिये। हाँ ! तो राजकुमार ने कहानी आरम्भ की—

एक रानी थी, उसके राजा परदेस थे। उसके महल के सामने एक कोठी में लाल-पीली सरसों भरी थी, और उसमें एक गोखा था। रानी लेटी ही लेटी देखती—एक चिड़िया आती है—एक दाना सरसों चोंच

में लेती है—और फुर्र से उड़ जाती है। एक चिड़िया आती है—।'

बालक ने सोते में हलकी हुँकारी भरी और वह स्वप्न में पंख फैलाए आकाश में उड़ता चला जा रहा है। दादी कहानी बन्द कर देती है।" तीसरा व्यक्ति चुप हो जाता है।

पहला—"और राजकुमारी।"

दूसरा—"और फिर।"

तीसरे ने हँस कर कहा—"कहानी का राजकुमार सुन्दर था और राजकुमारी भी; और बस। फिर युग युग से कहानी चली आ रही है। एक चिड़िया आती है—एक दाना सरसों चोंच में लेकर फुर्र से उड़ जाती—अनन्त आकाश में उड़ती जाती है, हवा पर तैरती हुई—पंख फैलाए।"

बाबुलि ! मोरो नैहरवा छूटो जाय

(स्थान—जोवनेर) (काल—मई-जून ४४ ई०)

"मोहन! अन्त में तुम आ गए।" उसकी दुर्बल वाणी में प्रतीक्षा की उत्सुक वेदना उमड़ उमड़ कर फैल गई।

"हाँ! अनुराधा।" उसके हृदय की आकुल उत्कंठा सैकड़ों मील की यात्रा की थकावट में जैसे खोई जा रही थी। वह सामने की कोच पर सहारा लेकर बैठा हुआ था और उसने अपने पैर छोटी मेज़ पर रख छोड़े थे। सफ़ेद विस्तर पर अनुराधा का दुर्बल शरीर था, जो साड़ी की उलझन में ऐसा खो गया था जैसे कुछ है ही नहीं। उसके पीले मुख पर आँखों के मार्ग से जीवन की संध्या झाँक रही थी। मोहन की आँखें कुछ क्षणों के लिए उसकी आँखों से मिल गईं। उनमें था दुःख की गंभीर छाया में निराशा की वैराग्य भावना के आवेगों के बाद बची हुई वेदना की चिर स्मृति।...प्रकृति के उठे हुए तूफ़ान के बाद...उजड़े हुए उपवन में पेड़ों की शाखायें टूटी पड़ी हैं...लतायें पेड़ों से अलग होकर इधर-उधर बिखरी हैं...फल गिर गए हैं...फूल झर गए हैं...क्यारियाँ बिगड़ गई हैं...पक्षियों के घोसले उजड़ गए हैं। और ठंडी हवा का झोंका आता है...उपवन को झीम झीम सिहरा जाता है।

उसके लिए यह सब सहना कठिन हो गया। निश्चल निराशा, जीवन के प्रति गहरी उपेक्षा और उस पर मृत्यु की छाया। इस भय का बोझा भार बन कर उसके हृदय पर अज्ञात रूप से बैठा जा रहा था। उसने घबरा कर अनुराधा के सिरहाने की खिड़की से बाहर देखना चाहा। जैसे वह कमरे के वातावरण से बचना चाहता हो, परंतु दृष्टि नीले परदे पर रुक गई। फिर तैरती हुई दृष्टि से उसने देखा—कमरा सुन्दर ढंग से सजा हुआ है, फर्श भी क़ीमती है। एक कोने में मेज़ पर ग्रामोफ़ोन रखा है, और कमरा नीले प्रकाश से गहरा हो रहा है। ऊपर बड़े बड़े आकार के फोटो टँगे हैं। वह सोच रहा था—'इतना ऐश्वर्य...और अनुराधा।'

अनुराधा के सामने एक लंबे युग के बाद मोहन था। मोहन के मुख पर प्रौढ़ावस्था की छाया और थकावट ऐसी मिल-जुल गई थी... जैसे वह जीवन में चलता आ रहा है—चलता जा रहा है और अविराम युद्ध में लगा सैनिक थककर भी लड़ता जा रहा है। उसकी तैरती आँखों में विवशता का ढीलापन था।...तूफ़ानी समुद्र के आवेग में ऊँची ऊँची लहरों को देखनेवाला नाविक, समुद्र शांत होने पर अपने को केवल एक तख्ते के सहारे पाकर विवश निरुपाय किसी किनारे का स्वप्न देख रहा है।

एक धीमी सी उसाँस में अनुराधा अपने हृदय की वेदना को ऊपर लाने का प्रयास कर रही थी—"अच्छा ही किया—आ गए। अब अधिक समय भी नहीं रहा। चला-चली का समय।" परंतु हृदय की उमड़न उच्छ्वास के साथ ही फैल कर उपेक्षा की दार्शनिक गंभीरता में समा गई।......हवा से उठी हुई तरंग समुद्र के विस्तार में विलीन हो गई। वह अपनी दृष्टि किसी चीज़ पर टिकाना चाहती थी।

"नहीं अन्नो! ऐसा कहीं कहते हैं। क्या तुम घर एक बार भी नहीं चलोगी।" वह कह तो गया, पर स्वयं भी नहीं समझ सका वह

कहना क्या चाहता था। इन साँसों की चलती हुई गिनती पर वह किस प्रकार रोक-टोंक लगा सकेगा। जीवन और मृत्यु के बीच अनुराधा को देख कर वह वस्तुतः अकिंचन हो उठा है। अन्दर से कुछ कहने जैसी बात बार-बार आ रही है, पर वह कह नहीं पा रहा है। वातावरण गम्भीर होता जा रहा है और जैसे साँस लेने को हवा कम हो गई हो...दम घुट रहा हो। परंतु एक आलस्य और थकावट की तंद्रा उसको डुबोती जा रही है जिसमें वेदना की हलकी कसक खोई जा रही है।......झिलमिल झिलमिल करती चाँदनी में झील अपने विस्तार में लहरों के आन्दोलन के साथ खोई सी जा रही है।

और अनुराधा जीवन की गहरी छाया में मोहन को पाकर किसी अव्यक्त उमड़न का अनुभव कर रही थी, परंतु उसके संचित अवसाद में सभी कुछ विलीन होता जा रहा है...संध्या के घने अंधकार में प्रकृति अपने रंग-रूपों के साथ मिटती जा रही हो। वह किसी सूत्र को पाना चाहती थी, जिसके सहारे इस गहरे वातावरण को कुछ हलका कर सके। परंतु जीवन के छिन्न-भिन्न सूत्रों के प्रति उमड़ती हुई विरक्ति में वह उनको सँभाल-सँभाल कर भी सँभाल नहीं पा रही थी। भाव की इस असंयत स्थिति में वह किसी वस्तु पर दृष्टि जमाना चाहती थी। सामने की खिड़की के ऊपर टँगे हुए पति के चित्र पर उसकी दृष्टि ठहर गई, पर एक क्षण में ही जैसे बिजली की करेन्ट ने उसकी दृष्टिको बाहर फेंक दिया हो।

नौकर परदे उठा गया था।

उसी समय बोझिल वातावरण में साँस लेने का प्रयास करते हुए मोहन ने जैसे कुछ कहने के लिए ही पूछा—"अन्नो! उनको क्या छुट्टी नहीं मिली।"

बाहर फैलते हुए अंधकार से मिलती हुई दृष्टि रुक गई—"वे! मोहन, उनको इस समय भी कहाँ छुट्टी मिल सकी।" फिर भावों के झटके साथ उसकी दृष्टि, सामने...संध्या के धुँधले अंधकार में काली

छाया-रूप पहाड़ियों पर फैल गई। घनी छाया में उन पहाड़ियों पर पेड़ों के समूह व्यक्त हो रहे थे...बालू के मैदान टीलों के रूप में पहाड़ियों से मिल रहे थे...और उनमें केवल आकार भेद था। पहाड़ियों की श्रेणी पर, नीले आकाश में बादल के छोटे छोटे टुकड़े लालिमा की आभा से चमक रहे थे। वह देख रही थी...पर देखने में आत्म-विस्मृति का भाव ही है। वह इस शून्य में अंधकार के समान ही फैली जा रही थी।......पक्षी पर फैलाये, गोधूली के समय...शून्य गगन में उड़ता चला जा रहा है...उड़ता चला जा रहा है...हवा में पैंग भरते। पता नहीं किस नीड़ की ओर। और उसका मन भी आगे बढ़ रहा था।

* *

प्रथम मिलन का अवसर है। सजे हुए कमरे में अनुराधा नव-वधू के रूप में बैठी है। लज्जा और संकोच से बोझिल उसका हृदय किसी की प्रतीक्षा में है। वह किसी अज्ञात आकाँक्षा और उत्कंठा में व्यग्र है। यह हृदय काँप काँप क्यों उठता है—और यह मीठा अवसाद कैसा छा रहा है—किसी अज्ञात के प्रति विचित्र आकर्षण और साथ ही अज्ञात भय की भावना...ज्वार आने के पूर्व समुद्र की तरंगें अधिक तेज़ी से उठती और टकराकर मिट जाती हैं। परन्तु भय क्यों? वे तो सौम्य हैं—मुख पर उदारता का भाव है। उनकी आँखें सदा हँसती सी प्रतीत होती हैं। हाँ ऐसा ही तो। लैम्प मन्द मन्द प्रकाश फैला रहा है—लौ के हिल जाने से प्रकाश काँप उठता है...और उसका जादू जैसे प्राणों पर छाया जा रहा है...प्राण सिहर सिहर जाते हैं। उसी समय पड़ोस में रिकार्ड बज उठता है—

"बाबुलि! मोरो नैहरवा छूटो जाय।"

स्वरों में काँपता हुआ अवसाद उसके मन में समा रहा है और यह वेदना क्षण भर में उसकी समस्त चेतना को ढक लेती है। पिछली स्मृतियाँ घिरती आती हैं और उनमें अज्ञात का आकर्षण मिट सा जाता

है । उसका हृदय उमड़ आता है ।......झील के प्रशांत जल पर चंद्रमा चमक रहा है...हवा का झोंका आकर पानी में लहरों की हलचल मचा देता है—एकाएक लहरे टकरा टकरा कर टूट जाती हैं...चंद्रमा उनमें विलीन होकर एक कौंध रह गया है...बस । उसकी आँखों से आँसू झर रहे हैं...और वह देखती है कोई अज्ञात सा चुपचाप खड़ा है ।

* *

"अम्मा ! दवा पी लो समय हो गया है ।" पलंग के सहारे १२ वर्ष की अंजनी माँ का हाथ धीरे से हिला रही थी ।

अनुराधा ने आँखें खोल दीं । डबडबाये आँसुओं में स्वप्न खोये जा रहे थे—"अंजो ! बेटी बहुत हुई दवा । अब नहीं पी जाती ।" लेकिन उसने देखा अंजनी ने उसका हाँथ ज़ोर से दबा लिया है जैसे किसी अज्ञात आशंका से भयभीत हो उठी है । उसने हाँथ खींच कर उसे अपनी ओर झुका लिया और उसका मुँह चूम लिया—"पगली डरती है, मैं तो आज बहुत अच्छी हूँ । नींद बहुत आ रही है इसी से कह दिया था । ला ! कहाँ है दवा । और फिर वही अपनी पसंद वाला रिकार्ड लगा दे । मेरी अच्छी अंजो ।"

मोहन भी अपनी तन्द्रा में चौंका—उसने आँखें खोल दीं । सामने खिड़की के बाहर...बालू का असीम मैदान अंधकार में विलीन हो चुका था । नीले आकाश में तारे झिलमिल चमक रहे थे...अस्थिर—चंचल । कोई काला पक्षी उड़ता हुआ निकल गया और दूर पर कोई मुसाफिर ऊँट पर जा रहा था जैसे कोई लंबी काली छाया धीरे धीरे बढ़ती जा रही हो । उसने आँखें बंद करलीं । उसी समय रिकार्ड बज रहा था—

"बाबुलि ! मोरो नैहरवा छूटो जाय ।"

अनुराधा ने दवा पीकर देखा—बाहर घना अंधेरा छा रहा था । उस अंधेरे से मिलजुल कर जैसे वह कुछ खोज रही हो, जैसे अंधेरे में सम होकर वह किसी पुरानी अनुभूति तक पहुँचना चाहती हो । फिर इस

अंधकार को अपने अंदर बंद कर लेने के लिए उसने आँखें बंद कर लीं।

और रिकार्ड अब भी बज रहा था।

* *

एक ओर से लहर उठती है, दूसरी ओर से लहर उठती है—दोनों टकरा कर मिटकर फिर लहरों के रूप में फैल जाती हैं। झील अपने नीले विस्तार में फैली है—उस पार बालू के छोटे बड़े रिलल समुद्र की लहरों के समान फैले हैं। क्षितिज की धुँधली फैली हुई रेखा पर खजूर के पेड़ के सिरे हिलजाते हैं। बस। दूसरी ओर आम-जामुन के बागों की हरियाली हवा के झोंकों में लहरा लहरा जाती है।

आज ५०० मील दूर इस गाँव के इस दृश्य के साथ उसकी भावना सचेष्ट हो उठती है। जैसे वह अपने पिछले उल्लास में अपनी कसक को ढूंढ़ने के लिए उस ओर बढ़ रही थी।

एक नौका छप छप करती झील में बढ़ रही है। डाँड़ उसके हाथ में है और साथ में एक वृद्ध पुरुष हैं…गोरा रंग, ऊँचा ललाट-बड़ी आँखें और सफेद बाल, सब मिलकर तेजस्वी लगते हैं। वह नाव खेते खेते थक सी गई है। माथे पर पसीना की बूँदें झलक रही हैं—तेज़ साँस से वक्ष की धड़कन अधिक हो गई है। वृद्ध पुरुष ने मुस्करा कर कहा—"अनो। अब रहने दो। तू थक गई है। नाव को अपने आप पर छोड़ न दे।"

अनुराधा अपनी चंचलता में थकावट को छिपाती हुई कहती है—"नहीं बाबू जी! वह बालू वाला किनारा आही गया।"

पिता हँसते हुए कहते हैं—"बड़ी बहादुर है मेरी बेटी। वह भी कहीं थकती है। लेकिन किनारा आया न आया—काम तो नाव पर चलने से है।" फिर जैसे उनकी हँसी अपनी बात की किसी गम्भीर छाया में लोप हो गई।

अनुराधा चुपचाप बैठ जाती है। नाव थपेड़े खाकर हिल डुल रही है। वह कभी दो एक हाथ डाँड़ चलाती है और फिर बैठ जाती

है। और उसी समय सामने के किसी टीले पर कोई गा रहा है—

"बाबुलि ! मोरो नैहरवा छूटो जाय।"

गीत के थिरकते हुए कंपनों पर वेदना और विरक्ति के स्वर गूँज रहे हैं। अनुराधा तन्मय होकर सुन रही है। सारा वातावरण गीत से गूँज रहा है। लहरों में आकुल झील का विस्तार—बादलों पर चमकती हुई संध्या की लाली—रिल्लों पर आकाशी लालिमा की झलक—और इस ओर की घनी होती हरियाली—मानों सभी इस गीत के ध्वनि-प्रवाह में बह रहे हैं—बहे चले जा रहे हैं···पक्षियों के झुंड आकाश की एक रस नीलिमा में उड़ते चले जा रहे हैं। और अनुराधा की चेतना में जैसे यह गीत समाया जा रहा हो।

गीत रुक जाता है, जैसे सारी प्रकृति क्षण भर के लिए ठिठक कर रुक गई हो। अनुराधा ने देखा—पिता की आँखों में आँसू झलक रहे हैं। वह जैसे चौंकी—"बाबू जी!" पिता ने अपने को सँभालते हुए कहा—"कुछ नहीं।" और आँसू पोंछते हुए कहते हैं—"इस गीत में ऐसी ही बात है—तुम समझती हो अन्नो।"

"नहीं पिता जी।" लेकिन अब वह समझ रही है, उसने बात को हलका करने के लिए कहा—"लेकिन बाबू जी! मोहन का कौन सा नैहर छूटा जाता है।"

"मोहन! वह तो पागल है। इस निरीह लड़के को प्रयत्न करके पाला, लेकिन देखता हूँ उसका मन काम-काज में नहीं लगता और पढ़ने-लिखने से तो उसे विरक्ति ही है।...परन्तु बेटी? हमारी ममता, हमारे मोह और प्यार का नाम ही तो नैहर है; और जब किसी अपरिचित अज्ञात के आकर्षण से उसे छोड़ना पड़ता है तो प्रत्येक आत्मा अज्ञात वेदना और भय के स्वर में गा उठती है—"मोरो नैहरवा छूटो जाय।" पिता ने एक निश्वास के साथ कह दिया। पन्द्रह बरस की अनुराधा सोच रही है—अपने चारों ओर फैली हुई मोह ममता की बात और किसी अपरिचित का अज्ञात आकर्षण। अंधकार के प्रसार

में सारा दृश्य धुँधला हो रहा है।

* *

रेकार्ड बज चुका था। अंजनी चुपचाप कभी 'माँ' को और कभी नवागंतुक अतिथि की ओर देख लेती थी। किसी के आराम में बाधा न हो इसलिए वह बिलकुल चुपचाप थी जैसे कमरे की शांति के साथ मिल जाना चाहती हो। वह अपने अस्तित्व से कमरे को अलग समझना चाहती थी। वह कभी मैदान में फैले अंधकार में टिमटिमाते तारों से खेलने का प्रयास करती है—और कभी दूसरी खिड़की के बाहर पहाड़ी की अँधेरी छाया श्रेणी का अन्दाज़ लगाती हुई उन पर लुका-छिपी करती थी। फिर उसे लगा···इस निस्तब्धता में एक भय की भावना अदृश्य हो रही है। और वह आँख मीचना चाहती थी। उसी समय 'माँ' ने करवट बदली, उसने धीरे से पुकारा—"माँ"। परंतु माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया। अनुराधा की निद्रा में स्वप्नों की छाया थी।

* *

कोठे की खिड़की पर अनुराधा मोहन के पीछे खड़ी है। मोहन बाहर के दृश्य में खो रहा है और वह उसके खोयेपन को पाने में व्यस्त है। घनी हरियाली के आगे झील का नीला स्तर फैला है। सारी हरियाली झीम रही है—झील भी अपनी लहरों के छायातप में सप्राण है। झील के पार-सुदुर बालू के रिल्ल चले गए हैं—जैसे सागर की लहरें किसी जादू से स्थिर कर दी गई हों—और रिल्ल सागर के ज्वार की चिरंतन भावना से स्थिर हैं। अनुराधा मोहन की दृष्टि को पकड़ते हुए कहती है—मोहन भैया! उधर क्या देख रहे हो—तभी बाबू जी साधू महात्मा कहते हैं—। इधर देखो! तुम ससुरे कब जाओगे।" उसने मोहन का हाथ हिला दिया।

मोहन चकित है—"कैसे ससुरे अन्नो।"

उसका हाथ हिलाती हुई अनुराधा कहती है—"हाँ हाँ—बोलते क्यों नहीं। उस दिन गा रहे थे, न—बाबुलि मोरो—।"

"अच्छा" । मोहन हलकी निश्वास लेकर बाहर देखते हुए कहता है—"मुझे कहाँ जाना है अन्नो ! नैहर तुम्हें छोड़ना है ।"

"मैं क्यों कहीं जाने लगी ।"

"ससुराल तो सभी को जाना होता है अन्नो ।" वह बाहर ही देख रहा है ।

"नहीं जाना है मुझे ससुराल असुराल ।" उसने मोहन का कन्धा ज़ोर से हिला दिया ।

"हाँ हाँ ! देखूँगा तुम हमारे घर कब तक रहोगी ।" उसने बाहर ही देखते देखते कहा ।

"हाँ हाँ ! देख लेना ? मैं अपने घर से कहीं नहीं जाती ।" वह अभिमान से कह तो गई—लेकिन यह क्या सत्य है, वह रुक जाती है । वह विचार कर रही है—मोहन का घर न होकर भी यह घर उसका इतना अपना है; और यह घर उसका है और उसका होकर भी बिलकुल नहीं है ।...मोह, ममता का नाम ही तो नैहर है—और जैसे कोई अज्ञात अपरिचित उससे उसे अलग कर रहा है । उसकी आँखों में आँसू भर रहे हैं ; भावों की उमसन का अनुभव कर मोहन मुड़कर देखता है—उसकी आँखों में आँसू हैं—वह चकित है ।

"अन्नो जरा सी बात में रोती हो । हँसी में भी कोई रोता है । तुम्हें कौन कहाँ भेज रहा है ।" वह उसे चुप करना चाहता है । परन्तु उसके हृदय की उमड़न आँखों से बरस रही है ।

* *

अंजनी भी अब औंघा गई थी । लेम्प का मन्द प्रकाश नीले शेड से निकल कर कमरे को स्वप्नलोक सा बना रहा था । बाहर अंधकार फैला था, जिसमें टिमटिमाते हुए तारों का क्षीण प्रकाश किसी रहस्य की सृष्टि कर रहा था । चारो ओर निस्तब्धता छाई थी । केवल दूर से किसी पक्षी का तीक्ष्ण स्वर आ जाता था । अनुराधा के मुख पर परिवर्तित भावों की छाया और पलकों में स्वप्न थे ।

*   *

अनुराधा नव-वधू के वेश में अपने घर के द्वार पर खड़ी है। पिता की आंखों में आंसू भरे हुए हैं और गला भी भर आया है—अनुराधा पिता से चिपट कर रो उठती है। भरे गले से पिता कह रहे हैं—"बेटी! हम इसी दिन के लिए तुम्हें बड़ा करते हैं। हमारे प्यार को आज अपने चरम पर परीक्षा देनी होती है। वह अपने त्याग में आज के दिन धन्य होता है। परन्तु मेरे हृदय में जो हा हा कार मच रहा है उसको मैं सँभाल नहीं पा रहा हूँ। तुम तो मेरे लिए बेटा बेटी सभी कुछ थीं।" अनुराधा अपने भार में व्यस्त है—रोने से जी हलका नहीं होता…जी चाहता है मन को रूदन में बहा दें। हृदय की उमड़न बार बार मन को ऐंठ देती है—वेदना का आवेग ऊपर आ रहा है।...यह सब कैसे होगा—झील—बाग—रिल्ल कैसे छूटेंगे। और पिता—उनके बिना वह कैसे रह सकेगी—किस अज्ञात अपरिचित के लिए।

पालकी में वह चली जा रही है धीरे-धीरे झील दूर होती जा रही है—बालू के रिल्ल दूर और दूर पर चमक रहे हैं। अब वह रो नहीं रही हैं—केवल भीतर से कोई गूँज उठती है और वह विकल हो उठती है। इस प्रकार वह चली जा रही है—और जैसे कोई अपरिचित अज्ञात आकर्षण उसे बरबस खींच रहा है। उसने सुना—दूर झील के किनारे कोई गा रहा है—

'बाबुलि! मोरो नैहरवा छूटो जाय।'

मोहन! हाँ मोहन ही तो। ओह! ममता—मोह के किसी बंधन को उसे छोड़ना पड़ रहा है। उसे कितनी विकलता है…और वह किसी अज्ञात आकर्षण से जैसे विवश हो।

*   *

वह चिहुँक उठी। कमज़ोर हृदय की गति तेज़ हो गई। भावों की तीव्रता को चेतना सहन न कर सकने के कारण डूबती जा रही थी। और उसमें स्वप्न वेग से अधिक अस्पष्ट और धुँधले होते जा रहे थे।

*   *

वही प्रथम-मिलन की रात है। आँसुओं के बीच में उसने देखा एक अपरिचित व्यक्ति, उसका अज्ञात देवता। ओह—उसके सौम्य मुख पर तो जैसे व्यंग की रेखाएँ हैं, और वह कह रहा है—"देखो ! मैं यह सब रोना-धोना नापसंद करता हूँ। यह देहातीपन मुझे नापसन्द है।" वह इस आघात से तिलमिला उठती है—वह चुप है पर उसकी आत्मा रो रही है।

*   *

कोई कह रहा है और वह सुन रही है—"जीजी। मैं तो फँसा दिया गया। मेरी तो ज़िन्दगी की ख़ुशी ही ख़तम कर दी गई। मुझे बड़े-बड़े आदमियों से मिलना-जुलना—और कहाँ यह देहातीपन और यह सूरत।" वह आगे नहीं सुन सकती है—उसके हृदय में जैसे चारो ओर बिजली दौड़ गई हो। ओह—यही है वह अज्ञात अपरिचित आकर्षण—उसकी ममता और उसका मोह जैसे हृदय की गहराई में कसक बनता जा रहा हो। उसे याद आ रहा है—

बाबू जी उसके मस्तक पर हाथ रख कर कह रहे हैं—"मेरी फूल सी अन्नो—सती शरमिष्ठा जैसी सुयोग्य और सुन्दर है।"

*   *

"देखो जी ! मैं साफ़ बात पसंद करता हूँ। हम पुरुष हैं और तुम स्त्री—यह तुम्हें याद रखना चाहिए। हमको जो अधिकार है वह तुमको नहीं। मैं यही समझता हूँ और तुमको भी यही समझना चाहिए। मैं जिस पोजीशन पर हूँ तुमसे काम नहीं चलने का...।"

अनुराधा सिर नीचा किये सुन रही हैं; जैसे किसी उपेक्षा में वह अपने को भी भुलाना चाहती हो। पुराने कल्पना के रङ्गीन चित्रों को वह अपनी जागने जैसी ख़ुमारी में भुलाने का प्रयास कर रही है। परन्तु अंतिम वाक्य ने जैसे उसके आत्म-सम्मान को स्पर्श कर लिया हो।

"समझ ही रही हूँ। आगे समझने की ज़रूरत भी नहीं है।" वह बिना प्रयास के कह देती है।

"लेकिन तुम्हारे आँसुओं का मतलब मुझे मालूम है—और फिर यह पत्र उसका—" उसके मुख पर व्यंग की मुस्कान है। अनुराधा ने उत्सुक आग्रह से पत्र अपने हाथ में लेकर पढ़ा—अनगढ़ अक्षरों में लिखा है—"प्रिय अन्नो! हम लोगों को तुम्हारी याद बहुत आती है। तुम भी याद करती हो? अन्नो, कौन नैहर छोड़ कर चला गया—तुम कि मैं। बाबू जी तुम्हारे बिना दुर्बल हो गए हैं। तुम्हारा—मोहन उसी समय व्यंग को अधिक तीव्र करके कहा जाता है—"समझ गई—यह सब नहीं होगा—तुम्हें कुछ कहना है।"

अनुराधा वितृष्णा से मुँह फेर लेती है—अपमान से उसकी वाणी काँप रही है—"कुछ भी नहीं कहना है। आप समझ भी नहीं सकते। जाइए—।"

❀ ❀

हृदय की धड़कन और तेज़ हो गई थी। विकलता और आवेग बढ़ रहा था। क्षण भर के लिए चेतना आई और अस्फुट स्वर में पुकारा—'मोहन! मोहन!!' फिर वह मूर्च्छा में अचेत हो रही थी। उसके कमज़ोर हृदय के लिए आवेगपूर्ण बात मना थी। उसका हृदय जैसे बंद हो रहा हो और मूर्च्छा की छाया गहरी होती जा रही थी। अंजनी कुरसी पर सो रही थी। और मोहन स्वप्न देख रहा था—

"रेत का मैदान फैला है। वह यात्रा कर रहा है—ऊँट की पीठ पर चला जा रहा है—पहाड़ी काफ़ी दूर दिखाई दे रही है। वह ज्यों ज्यों उस पहाड़ी की ओर बढ़ता जाता है वह पीछे खिसकती जाती है। अंधकार धीरे-धीरे फैल रहा है—और वह अंधकार में डूबती उस श्रेणी को पकड़ना चाहता है। उस ओर से आवाज़ आ रही है—

"बाबुलि! मोरो नैहरवा छूटो जाय।" और वह उस आवाज़ को पकड़ना चाहता है। धच्चे-धच्चे ऊँट आगे बढ़ता जाता है वह आगे पीछे

हिलता जाता है—उसका मन उसी अज्ञात ध्वनि की ओर बढ़ता जाता है—पर ध्वनि आगे ही बढ़ रही है। पहाड़ी श्रेणी भी अंधकार में डूबती जाती है—विलीन हो रही है।...और वह निराश-व्यग्र बढ़ रहा है। अंधकार में केवल एक ध्वनि रह गई है—मोहन ! मोहन !! और मोहन उसी के सहारे आगे बढ़ रहा है।

पत्थरों पर चाँदनी

(स्थान—रणथम्भौरगढ़) (काल—मई ४१ ई०)

मैं जग पड़ा—सामने रहस्यमय लोक की कल्पना फैली हुई थी। मेरे चारो ओर सफ़ेद कमलों की ढेर की ढेर पंखुरियाँ फैली पड़ी थी जिन पर चाँदनी दूध सी छायी थी। जब मैं चीलमहल की छत पर सोया था—उस समय तो यह गढ़, हम्मीरदेव का रणथम्भौर—दुर्दान्त पाषाणों के खड़हरों में किसी वीर का अपराजेय स्वप्न अपनी स्मृति के अंधकार में छिपाए खड़ा था। अब आकाश में चाँद अपनी चाँदनी बिखेरता हुआ ऊपर चढ़ रहा था। सारा नभ-मंडल ज्योत्स्ना से जैसे उद्भासित हो उठा हो—और उसमें झिलमिल झिलमिल विलीन होते से तारे मौन-भाव से गुप-चुप आपस में कुछ बातें कर रहे थे। देखा—चंद्रमा जैसे विहस रहा हो।

मैं खड़ा होकर टहलने लगा। चीलमहल की इस छत से गढ़ के चारो ओर का, दूर तक का दृश्य दिखाई देता है। चारो ओर चाँदनी फैली हुई थी—अंधकार की स्मृति जैसे धुल गई हो और स्वप्न प्रत्यक्ष हो उठा हो। नीचे दूर पर पूर्व-उत्तर की ओर पहाड़ी श्रेणियाँ धुंधले आकार में चली गईं थीं...नीचे फैले हुए मैदान को वृक्षों की काली रेखाएँ सीमादान कर रही थीं। गढ़ के ठीक नीचे फैले हुए तालाबों

के जल-विस्तार पर चाँदनी जैसे लहरों में लुक-छिप रही थी। धुर पूर्व की ओर कमल-धार की घाटी में चाँदनी ने अंधकार को थपकी देकर सुला दिया था। आस पास के खड़हर भी जैसे अपने स्वप्नों में विस्मृत खड़े थे।

मैं कैसे कैसे भाव लेकर इस चाँदी की चादर से ढके हुए संसार को देख रहा था। इस स्वप्निल वातावरण में मेरा मन किसी अज्ञात महान ऐश्वर्य और दुर्दम वीरता की कल्पना साकार करने के लिए विकल हो उठा। काल और परिवर्तन से, मानव की शक्ति और कल्पना का प्रतिरूप यह गढ़ अपने खड़हरों के रूप में अतीत का स्वप्न बन गया है। आज इन ध्वस्त महलों में—छतरियों में—सभामंडपों में कबूतर और चमगादड़ रहते हैं—जिनमें एक दिन जीवन का सप्राण कंपन मुखरित रहता था। राणा हम्मीर इसी गढ़ में तो रहते थे—उनके वारों का आमंत्रण भी यहीं होता था और उनकी रण-सभाओं का आवाहन भी यहीं होता था। और सुना है—उस वीर से दिल्ली का सम्राट भी थर्राता था।...राणा के गढ़ के बिखरे हुए पत्थरों पर चाँदनी छाई हुई थी...और वातावरण में मधुर कंपन उत्पन्न करता हुआ हवा का एक झोंका निकल गया। अब मुझे नींद आ रही थी।

❀ ❀

दो पहाड़ियाँ चली गई हैं—उनके बीच में फैला सा प्रदेश है। सारा भाग झाड़ियों से रुँधा हुआ है और चारो ओर बड़े बड़े पत्थर के टुकड़े बिखरे हुए हैं···और चाँदनी उन पर फैली हुई है। गहरे अँधेरे रूप में सोती हुई सी पहाड़ियाँ एक अतीत का स्वप्न लेकर आगे बढ़ती जाती हैं—पास निकट आती जाती हैं। बीच बीच में झाड़ियाँ—हलके अँधेरे के टुकड़ों सी—उसी अतीत-स्वप्न के छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में छितराकर बिखर गईं हैं। और पत्थरों पर चाँदनी फैली हुई है—जैसे सारी कल्पना को ठोस आधार देना चाहती हो।

आगे जाकर श्रेणियाँ बिलकुल पास आ जाती हैं—चाँदनी में फैली हुई वे मानो किसी कल्पना को घेरती घेरती रुक गई हों। और अतीत में किसी मानव ने इन दोनों को मिलाकर एक फाटक लगा दिया है—जैसे प्रकृति की ठिठकी हुई कल्पना के आधार पर अपनी कल्पना पूरी कर ली हो...! और फाटक चाँदनी की छाया में उस अतीत की कल्पना के स्वप्न में खोया खोया खुला है। आगे घाटी है—दोनों ओर पहाड़ी श्रेणियाँ पास पास चल रही हैं—यह वास्तव में बरसात में बहनेवाला पहाड़ी नाला है। घाटी में बाईं ओर की श्रेणी की छाया पड़ रही है—और दाहिनी ओर की श्रेणी चाँदनी में अधिक स्पष्ट है। और अँधेरी छाया में घाटी के बिखरे हुए पत्थर—कलकल करते नाले ने पिछली बरसात में जो कहानी सुनाई थी—उसी की अव्यक्त उमड़न लिए खोए हुए हैं। धीरे धीरे श्रेणियाँ अलग हो जाती हैं—सामने ऊँची सी विस्तार में फैली हुई चट्टान है—चाँदनी में वह अधिक व्यक्त हो उठी है—स्वप्नों में खोई हुई कल्पना को जैसे आधार मिल गया हो।......और सामने दूसरा फाटक है...चाँदनी की कल्पना फाटक के अँधेरे से चुपचाप निकलकर आगे बढ़ गई—और फिर सामने ही गढ़ की कठोर दीवाल की एक झलक मिल जाती है। चाँदनी पत्थरों पर फैली है—चाँद आकाश के बीच में संभ्रात हँसी हँस रहा है......आकाशी चाँदनी के आवरण में तारिकिएँ मधुर स्मित में गुप-चुप संकेत कर रही हैं।

धुँधली चाँदनी में जैसे कुछ स्पष्ट होते होते रुक गया हो।

और दो सवारों की धुँधली सी साया आगे बढ़ रही थीं। जैसे दो सवार चले जा रहे थे—स्पष्ट कुछ नहीं। और उनके पीछे कुछ लोग जैसे और भी चल रहे हों—पर वे सभी अदृश्य थे। सूर्य बीच आकाश में तप रहा था—उसकी तपन से वे साया अस्थिर हो उठती थीं। एक गरम लू का झोंका हू हू करता निकल कर आगे की पहाड़ी से टकरा गया—और वे दोनों साया काँप उठीं। एक साया कुछ कह

रही थी—"सरदार ! आप को क्या पूरा यक़ीन है कि राणा हमको पनाह देगा ।" शब्द जैसे निकलते ही पिघलकर हवा में मिल जाते थे ।

दूसरी साया रुक रुक कर कह रही थी—"कासिम ! तुम नहीं जानते इन राजपूतों को । पनाह में पहुँच जाने पर इनके सामने देने न देने का सवाल ही नहीं उठता । और तुम को मालूम नहीं इनकी शान—जान देकर भी अहेद निभाते हैं ।"

बीच में दूसरा स्वर झनझना उठा—"लेकिन सरदार ! राणा अलाउद्दीन की बेशुमार फ़ौज का धावा भी सह सकेगा ।" एक लू का तेज झोंका साँय साँय कर उठा—और उसमें आवाज़ दूर जाने से पहले ही मिट गई ।

दूसरी साया हिलती हुई सँभाल सँभाल कर कह रही थी—"देखते हो कासिम—वह—कुछ ही दूरी पर—राणा के क़िले की दीवार को ।" सामने गढ़ की विशाल और दुर्भेद्य प्राचीर खड़ी थी—दोनों साया धीरे धीरे आगे बढ़ रही थीं ।

पहली साया जैसे फिर कुछ कह उठी—"फिर भी सरदार ! राणा हम-मज़हब नहीं है ।

दूसरी साया एकाएक रुक गई—और हाहाकार करता हवा का झोंका उनको फिर कंपा गया ।

"लेकिन अलाउद्दीन तो हम-मजहब था कासिम ।" उसकी व्यंग की हँसी अव्यक्त ही मिट गई—"और देखो कासिम ! अगर राणा के पास चलना है तो मज़हब की बात छोड़ो—नहीं तो हमारा रास्ता अलग अलग है । अभी सोच लो—मुझे तो लगता है, दुनिया में एक मज़हब से ऊँची चीज़ है—इंसानियत ।" दोनों साया थोड़ा रुक गईं —फिर एक मोड़ पर घूमकर वे गढ़ की छाया में विलीन हो गईं । घोड़ों की टाप जैसे सुनाई दे रही थी ।

गढ़ के पत्थरों पर चाँदनी फैली है—चंद्रिका मुस्करा कर फ़ुस फ़ुस जैसे गढ़ से कह रही हो—'जानते हो राजपूतों को ? समझते हो

उनकी शान!! देख रहे हो दुर्भेद्य प्राचीर??? और याद है—इंसानियत।' वह गुपचुप कहती फिर रही है।

❀ ❀

पहाड़ी श्रेणी को काटकर बनाई हुई विशाल प्राचीर की कठोर कल्पना को चाँदनी जगा रही है—पर गढ़ जैसे अपनी पाषाणी निद्रा को छोड़ना नहीं चाहता। गढ़ का उत्तरी नवलखा-द्वार अपने दुर्दमनीय फाटकों में बंद है—वह अपने कठोर स्वप्न को भंग नहीं करना चाहता। उतरनेवाले पथ के चिकने पत्थरों पर चाँदनी झलक झलक जाती है—जैसे उनको जगाकर राजपूती अश्वों की टापों की कहानी उनसे सुन लेना चाहती हो। नीचे—कुछ ही हटकर बस्ती के धुँधले खंडहरों के पास—दोनों सरोवरों में लहरे, चाँदनी से मिलकर बन रही हैं—बनकर वे चमक चमक उठतीं हैं, पर मिटते समय उनका मिटना अदृश्य ही है।...मुँदे कमल हिल रहे हैं।—और गढ़ से उतरनेवाले पथ के पत्थरों पर चाँदनी फैली हुई है।

चाँदनी की छाया में नवलखा-द्वार जैसे खुलते खुलते रह गया।

तीन धुँधले से—मिटे मिटे से घोड़-सवार निकल कर आगे बढ़ रहे थे। नीचे की बस्ती में धुँधले-धुँधले से मकान और मन्दिर उठ गये थे—और उसमें हलचल सी हो रही थी। पर भास ही होता था—वैसे सब स्तब्ध-शान्त था। वे तीनों अस्पष्ट से सवार ढाल पर बढ़ रहे थे। आकाश में हलके गुलाबी बादल छितरा रहे हैं—प्रातः काल की हवा का एक झोंका उन अदृश्य सवारों को स्पर्श करके निकल गया। एकाएक मन्दिर के घड़ियाल और घंटों की ध्वनि गूँज उठी—पर वातावरण मूक—मौन था—और आगे के सवार ने जैसे तृप्ति के साथ कहा—"जै एकलिंगेश्वर की।" पीछे के सवारों ने भी दुहरा दिया—पर हवा इन शब्दों के प्रति निरपेक्ष बह रही थी—ध्वनि जैसे अपने आप में समा जाती थी। तीनों सवार अदृश्य से ओझल से ढाल पर उतर रहे थे। कुछ देर बाद जैसे कुछ सोचकर आगे के सवार ने

कहा—"वीरम ? मीरमोहम्मद हमारी शरण आ गया है—और जब आ गया तो हमारा शरणागत है—? लेकिन वीरम अलाउद्दीन अब चढ़ाई करेगा—और निश्चय ही अपनी पूरी शक्ति से करेगा।" वह कुछ रुक गया। दाहिना सवार कुछ आगे बढ़ आया और जैसे कह रहा था—"अन्नदा। यह आपकी दुधर्ष कल्पना को एक वीरता का अवसर ही मिला है...और लगता है—राजपूतों की रणचण्डी प्रसन्न होगी।"

आगे के सवार की अस्पष्ट मुद्रा में जैसे अज्ञात आशंका झलक कर मिट गई—"हाँ वीरम! राजपूत तो वीरता का अवसर ही ढूढ़ता है—रण का आवाहन ही करता है। लेकिन—वीरम! तुम जा रहे हो—दिल्ली की सेना को बीच में ही रोकने—और मैं रण-यात्रा के लिए तुम्हें विदा देने आया हूँ—पर लगता है, इस बार हमारे इस गढ़ की परीक्षा है—।"

प्रातःकाल की हलकी धूप में दुर्भेद्य दुर्ग की प्राचीर जैसे व्यक्त हो उठी—और नीचे के सरोवर में कमल खिल रहे थे।

बाँया सवार ओझल सा कुछ आगे बढ़ आया और कह रहा था—"महाराणा! लेकिन मैं सोचता हूँ अन्नदाता? आखीर यह सब किस-लिए।"

अगला सवार अपनी उद्विग्नता में ओझल था—"सोचते हो भोज? पूछते हो किसलिए। लगता है राजपूतनी ने अपनी कोख में तुम्हें नहीं रखा—तुमने उसका स्तनपान नहीं किया। राजपूत 'किसलिए' का प्रश्न नहीं पूछता भोज।"

बाँये सवार की चिन्तन उसके साथ ही ओझल थी—"नहीं अन्नदाता! मैं कह रहा था—मीर मोगल है—उसका भरोसा नहीं किया जा सकता।"

अगले सवार की लापरवाही दृढ़ता में छिपी थी—"अपना ही भरोसा कहाँ तक किया जा सकता है भोज। फिर भरोसे—की बात लेकर रुका कैसे जायगा।"

घोड़े की लगाम को ज़ोर से खींचकर बायें सवार ने जैसे अपने मन के किसी आघात को रोका—उसका घोड़ा लड़खड़ाकर रह गया। उसी समय दाहिना सवार धीरे धीरे कह रहा था—"ठीक है अन्नदा ? 'काम करना है' हमारे लिए यही बहुत है; राजपूत हानि-लाभ का हिसाब लगा कर चलता ही कब है।" उतार आगे जाकर बाईं ओर मुड़ गया—और तीनों अस्पष्ट सवार मोड़ पार करके प्राचीर की छाया में ओझल हो गए।

गढ़ के उतार-पथ के पत्थरों पर चाँदनी फैली है—और धीरे-धीरे जैसे दुर्ग के बंद द्वार से पूँछती है—'देखा है—राजपूतों की वीरता का अवसर—उनका रण का आवाहन—समझते हो—वे भरोसे की बात को लेकर रुकते नहीं—और बता सकोगे—राणा के गढ़ की परीक्षा।' चाँदनी जैसे मौन मौन, फैली फैली दुर्ग के दुर्गम प्राचीर की ओर संकेत कर रही है।

❀ ❀

गढ़ के उत्तर में जिस ओर नवलखा-द्वार है—उस ओर—गढ़ के अंदर का अन्तिम फाटक ध्वस्त खड़ा है—उसके आगे का राजमार्ग पत्थर के ढेरों और झाड़-झंखाड़ों से रुँधा हुआ है—जैसे दुर्ग ने अपनी सोई हुई अतीत स्मृतियों के मार्ग में कल्पना के लिए अवरोध उपस्थित कर दिया हो। चाँदनी झाड़ों पर—पत्थरों पर फैली हुई है और अतीत स्मृतियाँ कल्पना में स्पष्ट होते होते अपने में खो जाती हैं। प्राचीर के सहारे एक पत्थरीला पथ है और ऊँचे-नीचे पथ पर होकर चाँदनी बिखरे हुए पत्थरों पर फैली है। कुछ ही आगे चलकर चाँदनी के स्पर्श से ठिठका हुआ बादल-महल खड़ा है—वह अपने सौन्दर्य-स्वप्न को खोदने के कारण जैसे संकुचित हो—अन्दर के घने अँधेरे में कपोत और चिमगादड़ फड़फड़ा उठते हैं। महल अपने शून्य हृदय में वेदना का कंपन लिए खड़ा है—और चाँदनी उस पर बिखर रही है। चाँदनी के प्रति निरपेक्ष मौन महल—सामने देख रहा है—

दूर नीचे की घाटी में वृक्षों की हरियाली को घना करके जैसे अंधकार टुकड़ों में विभाजित हो गया हो—और महल देख रहा है—उसका वैभव उसी अंधकार में खो गया है। पत्थर के बादल महल पर चाँदनी घनी होकर फैल रही है।

महल के अन्दर से जैसे कोई ध्वनि आती आती रुक गई।

महल से तीन अव्यक्त ध्वनियाँ आ रही थीं। गढ़ के नीचे की घाटी में धुआँ से फौजी डेरे पड़े हुए थे—धुँधले! अदृश्य! आकाश में चारों ओर से बादल उमड़ उमड़कर गरज उठते थे। एक ध्वनि सुनाई दे रही थी—"निराश होने की बात नहीं वीरम! हम दिल्ली की सेना को मैदानों में अधिक नहीं रोक सके तो क्या हुआ। हमारा अभिमान तो यह अजेय दुर्ग है—अब इसकी परीक्षा का समय है वीरम।"

दूसरी ध्वनि जैसे कुछ भारी थी—"नहीं अन्नदा! वीरम को गर्व है—वह राणा हम्मीर का सेनापति है......। लेकिन यही सोच रहा था—अलाउद्दीन का घेरा बरसों भी चल सकता है।"

पहली ध्वनि कुछ अधिक गम्भीर थी—"तो क्या हुआ वीरम! हम भी अपने गढ़ में बरसों लड़ सकते हैं। हमारे अन्नागार सुरक्षित रहने चाहिए—हमारे गुप्त मार्गों का पता शत्रु को न लगना चाहिए। फिर हमारे गढ़ के कुंओं का पानी तो अथाह है। हम बरसों लड़ सकते हैं वीरम! चिन्ता क्या है।" बादल उमड़ उमड़कर गरज उठते थे और गरज के साथ ही बिजली भी कौंध उठती थी। धीमी धीमी ये ध्वनियाँ फैलने से पूर्व ही डूब जाती थीं।

इसी बीच में तीसरी उद्विग्न सी ध्वनि सुनाई दी—"लेकिन अन्न-दाता! मैं ख़्याल करता हूँ—आख़ीर यह सब हो क्यों रहा है। इस सारी मारकाट, खून-खराबी की जड़ में तो मैं ही हूँ। एक मेरे लिए ही लाखों की जानें जा रही हैं—कितने बच्चे-औरतें रोज़ यतीम होते हैं। राणा एक दिन मैं अपने आप आया था—और आज अपने आप ही जाना चाहता हूँ! लौटना चाहता हूँ।" बादल गड़गड़ाकर गरज उठते हैं।

पहली ध्वनि की गम्भीरता में छिपा हुआ स्वाभिमान था—"मीर ? मेरे दोस्त। आज तुम्हारा मन उद्विग्न क्यों है ? क्या तुम्हारा भरोसा मेरी ताक़त से उठ रहा है। जाना ही चाहोगे मीर, तो अतिथि के लिए राणा के यहां कोई रोक नहीं है। लेकिन मीर ! राजपूत आगे बढ़ कर पीछे हटना नहीं जानता—लड़ाई छेड़कर संधि की शर्तें नहीं करता। तुम्हारे आने-जाने से हमारी लड़ाई में अब कोई अन्तर नहीं पड़ता। और मौत......? हम ज़िन्दगी-मौत में फ़र्क मानकर चलते ही कब हैं।"

सरल विश्वास को छिपाए दूसरी ध्वनि बज उठी—"भाई मीर ! हम विजय का विश्वास लेकर ही जीते हैं और अगर मरना पड़ा तो उसी विश्वास के साथ मरेंगे भी। फिर जब साथ जीते हैं तो साथ मर भी सकते हैं।" हवा का एक शीतल झोंका टकराकर फैल गया और उसमें ध्वनियाँ डूब गईं।

बादल-महल के पत्थरों पर चाँदनी छाई है—महल को अपने शीतल स्पर्श से कँपाती हुई पूँछती है—'सुना तुमने—राणा को इसी गढ़ पर गर्व था...और राजपूत आगे बढ़कर पीछे नहीं हटते—कुछ समझे—वे विजय का विश्वास लेकर ही जीते हैं और उसी के साथ मरते भी...और हाँ—ज़िन्दगी-मौत में फ़र्क मानकर वे चलते ही कब हैं।' चाँदनी अपने स्पर्श से महल को सिहरा देती है।

❀ ❀

गढ़ के पूर्व में अपने अत्यंत जीर्ण और जरजर रूप में सूरज पोल (पूर्वोद्वार) खड़ा है—चाँदनी उसके उजड़े हुए कँगूरों और ढहे हुए गुँबजों पर फैल रही है—और पोल अपने टूटे हुए स्वपनों पर फैली हुई चाँदनी से जैसे विचलित हो उठा है। वह हवा के झोकों में काँप उठता है। पास ही झौरा-भौरा* के संग्रहालय चाँदनी में स्पष्ट और

*गढ़ के लिए अन्नादि संग्रहीत करने के लिए बहुत-बड़े भूगर्भ-कोठार जिन पर गाड़ी जाने का रास्ता है—और इनमें ऊपर के बड़े बड़े छेदों से सामान भर दिया जाता था। वे अब भी वैसे ही मज़बूत हैं।

कठोर हो उठे हैं—जैसे पोल की कोमल कल्पना के प्रति निर्मम होकर सो रहे हों। पोल के नीच, उसी ओर गढ़ से कुछ ही हटकर एक पहाड़ी श्रेणी अँधेरे के हलके आकार में चली गई है—और बीच की घाटी में घना अंधकार सिमिट कर जैसे एकत्रित हो गया हो। घाटी की सघनता और पहाड़ी-श्रेणी के प्रसार पर चाँदनी मुग्ध मुग्ध सी फैली हो—और घाटी मानों किसी रहस्य से भर गई है—उसी की काली छाया उसमें फैली हुई है। पोल के जीर्ण-ध्वंसों पर चाँदनी उमड़कर फैली हुई है।

पोल के एक बुर्ज पर दो आकार व्यक्त होते होते मिट गए।

उस बुर्ज पर दो आकार खड़े थे—स्पष्ट व्यक्त कुछ नहीं—केवल आकार मात्र। और उस ओर घाटी में—दूर हटकर भीषण युद्ध की मिटी मिटी सी आवाज़ आ रही थी। आकाश में हलकी हलकी लाली शेष थी—घाटी जैसे किसी अँधेरे रहस्य के प्रवाह में डूबी जा रही हो, और उसमें दूर के युद्ध की ध्वनियाँ भी डूबी जाती थीं। वे आकार जैसे कुछ कह रहे हैं—पर घाटी में प्रवाहित होने वाली कमल-धार की अव्यक्त ध्वनि में जैसे सब डूबा जा रहा था। अँधेरे में मिलती हुई आकाश की लालिमा के नीचे केवल कमल-धार का कल-कल मुखरित हो रहा था।

एक आकार के भावों में उद्विग्नता थी—"तुम कहते क्या हो कासिम! अब अलाउद्दीन से हमारी सुलह का सवाल ही कहा है। और मुझे माफ़ करने का उसको हक़ ही कहा है।"

मिले हुए आश्चर्य में दूसरे आकार ने कहा—"क्यों सरदार! बादशाह से हमारी लड़ाई तो इसी बात को लेकर थी।—और अब बादशाह हमको माफ़ करके बुलाता है।"

पहले आकार में स्थिर निश्चय था—"लेकिन् कासिम! तुम्हें मालूम है—बादशाह की कितनी बड़ी इंसानियत की शर्त है। और देखो कासिम—अपने दिल से निकाल दो इस बुरे ख़्याल को—मीर

मर कर भी राणा का साथ किसी भी शर्त पर नहीं छोड़ सकता।"

दूसरे आकार के स्वर में छिपा हुआ आक्रोश था—"पर सरदार! यहाँ अपना ही सवाल तो नहीं है।......दीन और मज़हब की बात भी सोचो।"

धुँधला धुँधला सा संध्या का अँधेरा घिरता जा रहा था; और अदृश्य से पहले आकार का स्वर कठोर था—"आज अलाउद्दीन ने लालच दिया है—और तुम मज़हब और दीन की बात सोचते हो—कासिम। उस दिन की भी बात सोचो—राणा ने जब पनाह दी थी—राणा ने मज़हब की बात नहीं सोची थी। कासिम! मीर एक मज़हब से भी ऊँची चीज़ मानता है—और वह है इंसानियत।"

दूसरा आकार उमड़ते आक्रोश को छिपा रहा था—"अगर सरदार को काफ़िर का साथ देना ही मंज़ूर है—तो मुझे छुट्टी मिलनी चाहिए।"

पहले आकार की आवाज़ जैसे कड़क कर मिट गई हो—"फ़रेबी! दग़ाबाज़? तुझे छुट्टी मेरी तलवार देगी।" धुँधले अंधकार में लगा जैसे दोनों आकार फुरती से कुछ पीछे हटे और फिर दो चमकीली चीज़ें किसी तीसरी भारी चीज़ पर टकरा कर झन्ना उठीं। और उनके सामने एक तीसरा आकार हाथ में भारी गुर्ज लिए उसी प्रकार अव्यक्त सा खड़ा था। उसने स्वाभाविक स्वर में ही कहा—"देखो मीर! तुमको राणा के अतिथि पर प्रहार करने का साहस नहीं करना चाहिए।"

पहले स्वर का क्रोध मिटा नहीं था—"लेकिन आप जानते नहीं राणा?"

तीसरे आगंतुक का स्वर उसी प्रकार स्वाभाविक शांत था—"इस गढ़ के पत्थर पत्थर में हम्मीर बसा है—उससे कुछ छिपा नहीं है मीर! लेकिन राणा हिसाब लगा कर नहीं चलता—वह ज़िन्दगी को मानकर नहीं चलता।"

पहले आकार का स्वर उतर चुका था—"फिर भी राणा! मैं सेनापति हूँ और वह अदना सिपाही—मैं उसे हुक्म दे सकता हूँ—सज़ा दे सकता हूँ।"

तीसरे आकार ने गम्भीर स्वर में कहा—"मीर तुम्हारी आज्ञा के लिए मेरी सेना है—पर अपने अतिथि की रक्षा का भार स्वयं राणा पर है।"

पहला आकार विवश था—"लेकिन राणा! क़िले की हिफ़ाज़त का ख़्याल रखना मेरा पहला फ़र्ज़ है—और उसके लिए—।"

तीसरे आकार का दृढ़ स्वर बीच में गूंज उठा—"और राणा का पहला फ़र्ज़ शरणागत की रक्षा है—विवश हूँ मीर—। और कासिम—अगर तुम जाना ही चाहोगे तो राणा स्वयं तुम्हें सुरक्षित पहुँचा देगा।"

पहला आकार मिटते हुए आश्चर्य में जैसे मौन खड़ा हो—और दूसरा मिटती हुई स्तब्धता में मौन था—उसकी आँखों में आँसू झलक उठे। और एक हवा के झोंके में वे मिटते हुए तीनों आकार अदृश्य हो गए।

पोल के जीर्ण खड़हर पर चाँदनी फैली है। वह आश्चर्य के भाव से कह उठती है—'मज़हब से भी एक ऊँची चीज़ है—इंसानियत... गढ़ के पत्थर पत्थर में हम्मीर बसा है...और शरणागत की रक्षा के लिए विवश था राणा।' चाँदनी जीर्ण खड़हरों के पत्थरों पर आश्चर्य्य-भाव के साथ फैली है—ठिठककर घाटी में फैले हुए रहस्य को देख लेती है—और फिर फैल जाती है।

ॐ ॐ

चाँदनी में डूबा राजमहल खड़ा है...पास ही अन्तःपुर के बिखरे हुए पत्थरों पर चाँदनी फैली है। राजमहल किसी भूली सुधि में खोया खड़ा है—और चाँदनी बिखरे हुए पत्थरों से जैसे वही भूली बात बटोर रही है। राजमहल के पीछे ही—पद्माला सरोवर अपनी लहरियों से कुमुदिनियों को छेड़ छेड़कर खेल रहा है। चाँदनी सरोवर पर नृत्य करती हुई कुमदों को हँसा रही है—जैसे सरोवर अपने में ही भूला हो। राजमहल के अन्दर अँधेरा छाया है—और चाँदनी महल पर छाई हुई है।

राजमहल के दर्शनी-झरोखे पर मुकुट दिखाई देता देता लुप्त हो गया।

झरोखे पर जैसे मुकुट की चमक झलक उठी। बाहर लीन-लीन से असंख्य सैनिक एकत्रित हो रहे थे—उनके पीछे वस्त्र जैसे दिखाई दे जाते हों। रात अभी बीती नहीं है—अँधेरा अभी धुँधला नहीं हुआ था। झरोखे पर आवाज़ आ रही थी—"वीरो! तुम जानते हो आज हम अपने अन्तिम कर्तव्य के लिए विवश हैं। हमको अपने आप से धोखा हुआ है। जानते हो—रणमल और भोजदेव शत्रुओं से मिल गया है—अब हमारे अस्त्रागार खाली हैं—हमारे गुप्त मार्ग अरक्षित हैं।......आज हमारा जौहर है—जो कायर हो—डरपोक हो...।" अदृश्य अदृश्य से सहस्रों वीर सिर झुकाए सुन रहे थे—कोई हिला नहीं—कोई बोला नहीं।

× ×

पद्मला सरोवर के किनारे दो रूप बनकर मिट गये।

पद्मला के जल के पास एक पुरुष और जल में एक स्त्री रूप खड़े थे। पुरुष ने जैसे कुछ कहा—"राजकुमारी पद्मा! आज जौहर है।"

स्त्री-रूप के कोमल स्वर में अभिमान था—"हम्मीरदेव की पुत्री को यह याद दिलाने की बात नहीं सेनापति।"

"पद्मा! कदाचित् अब हम नहीं मिल सकेंगे।"

स्त्री-रूप जैसे अपने आप में मुस्कराता जल में आगे बढ़ रहा था। पुरुष-रूप कुछ उद्विग्न था—"पद्मा! क्या तुम अन्तिम बार भी उत्तर नहीं दे सकोगी।"

स्त्री-रूप जल की तरंगों में और आगे बढ़ गया था—फिर कुछ कहता हुआ लहरों में विलीन हो रहा था—"तुम अपने मधुर भ्रम को मिटाना ही चाहते हो वीरम! देवता के प्यार पर समर्पित नारी पुरुष को प्यार कैसे करेगी।" लहरों में विलीन होते हुए स्त्री-रूप के स्थान पर एकलिंगेश्वर महादेव की कल्पना बनकर मिट जाती है।

और पुरुष-रूप अपने आश्चर्य के साथ खो गया।

× ×

चम्पा के नीचे धुँधले अँधेरे में तीन आकृतियाँ प्रत्यक्ष होती होती रह गईं।

राजमहल के प्रांगण में चम्पा के वृक्ष के नीचे तीन आकृतियाँ खड़ी हैं। कोई कह रहा था—"मीर! आज राजपूतों का जौहर है...। और मैं चाहता हूँ तुम अपने स्त्री-बच्चों को लेकर गुप्त मार्ग से निकल जाओ। वीरम! मीर को सुरक्षित पहुँचाने का भार तुम पर है।"

एक अट्टहास गुंजकर शून्य में मिल गया—"राणा! मुझे ख़ुद ही उनकी चिन्ता थी। और वे हिफ़ाजत से ख़ुदा के तहेत में पहुँच गए हैं।" उसने अपनी तलवार म्यान से निकाल ली—ताजे ख़ून की लाली अँधेरे में भी प्रत्यक्ष हो उठी। उसी समय रनिवास में विस्फोट हुआ। पहले ने गहरी निश्वास में कहा—"तब सब ठीक ही हो रहा है। जै एकलिंगेश्वर।"

बाहर से सहस्रों कंठों में यही ध्वनि प्रतिध्वनित हो उठी...और फिर सब शांति में खो गया।

राजमहल चाँदनी में डूबा है।···अन्तःपुर के बिखरे पत्थरों पर चाँदनी फैल रही है—और सिसकती हुई कह रही है—'वीरों का जौहर—देवता का प्यार!'—फिर जैसे अपने आप से पूछ उठती है—'क्या राजपूतों की मर्यादा की रक्षा रक्त और ज्वाला से ही होती थी?' चाँदनी बिखरे पत्थरों पर पूछती फैल रही थी।

* *

चील महल की छत पर मेरी आँखें खुल गईं। चाँद आकाश में कुछ तिरछे कोण पर था।···चन्द्रमा स्थिर मौन था—चन्द्रिका तारिकाओं पर फैलकर उन्हें मौन कर रही थी चुपचाप—और तारिकाएँ भी ओठों पर अँगुली रखकर मना करती हैं—जैसे चुप मौन! हवा का एक झोंका दूर के पेड़ों को हिलाता कँपाता निकल गया। सारी

प्रकृति क्षण भर को मौन हो उठी। मैं अचेतन सा सुन रहा था—दूर बहुत दूर कुछ ध्वनियाँ आरहीं थीं।

"मीर ! मैं तुम्हारी इमानदारी और वफ़ादारी से खुश हूँ। मैं तुम्हें माफ़ कर सकता हूँ—? और मेरे हकीम तुम्हें अच्छा भी कर सकते हैं।"

"माफ़ी ! राणा के सामने झुकनेवाला सिर अब किसी के सामने नहीं झुक सकेगा—अलाउद्दीन ! और ज़िन्दगी ! इसकी ख़्वाहिश अब नहीं रही। फिर भी, काश तुमसे बदला ले सकता।" स्वर में कराह का कंपन था।

पहली आवाज़ और गम्भीर थी—"मीर अब भी बदला चाहते हो ! राणा तो अब नहीं है।...और सोचो मीर ! तुम हम-मज़हब हो।"

दूसरी आवाज़ मिट सी रही थी—"राणा इंसान था और इंसान मरकर भी नहीं मरता।···मज़हब ! तुम भी उसकी बात सोच सकते हो अलाउद्दीन ! मीर को नहीं चाहिए—तुम्हारा मज़हब—वह इंसान है और इंसान की तरह ही मरना चाहता है।"

हवा का एक झोंका आकर पास के पेड़ों को हिलाता फिर निकल गया। चाँद मंद मंद मुस्करा पड़ा—तारिकाएँ भी अपने आवरण में गुप चुप करने लगीं—और गढ़ के पत्थरों पर चाँदनी फैली थी।

सुख की कल्पना

(स्था०—जैपुर, पुराना घाट)　　(काल—दिस० जन० ४० ई०)

आकर्षण-केन्द्र :—

विश्व चलता है—उसमें स्थित ग्रह-नक्षत्र अपने अपने आकर्षण-केन्द्रों पर गतिशील हैं। सब का अपना केन्द्र है—सब की अपनी आकर्षण-शक्ति है। अणु भी चलता है—उसमें असंख्य परिमाणु उसी स्थिति में अपने अपने आकर्षण-केन्द्रों पर गतिशील हैं। सब का अपना केन्द्र—सब की अपनी आकर्षण-शक्ति है। हमारा सूर्य अपने मंडल के साथ गतिशील है—वह केन्द्र में स्थित है ··· उसके आकर्षण से उसके चारों ओर ग्रह मंडल घूमते हैं—और प्रत्येक ग्रह अपने आकर्षण से अपनी स्थिति पर रुका हुआ अपने केन्द्र पर घूमता है ··· हमारी पृथ्वी अपने केन्द्र पर नाचती—सूर्य के आकर्षण से वर्ष भर घूमा करती है। फिर इन सब के बीच सोचता हूँ मानव का कौन सा केन्द्र है और किस आकर्षण से वह उस पर घूमता रहता है।

❀ ❀

उसको मैंने कई वार देखा होगा। और प्रत्येक वार अनेक प्रश्न मन में उठे हैं। जब उसका स्ट्रेचर दो आदमियों द्वारा वाहित दिखाई दे जाता है [illegible] —— तीव्र हो जाता है [illegible]

लगते हैं, जिनका समाधान कठिन है। उसका शरीर स्ट्रेचर पर बस टिका भर है—न हाथों का कोई अस्तित्व और न पैरों का ही कोई विशेष चिह्न है। नहीं कहा जा सकता कौन इन्द्रिय ठीक है—परंतु लगता है कदाचित ही कोई इन्द्रिय उचित रूप से कार्यशील हो। उसका पेट चिपट कर पीठ से मिल गया है—उसे देखकर यह सन्देह होता है कि वह जीवित भी है। परंतु एक बार उसकी आँखों की चमक देख लेने के बाद मन में इस संदेह के लिए स्थान नहीं रह जाता। उस की बड़ी बड़ी आँखों में जीवन झलकता है। यदि उस के शरीर में कोई जीवन स्पन्दित भाग है तो वह उसकी आँखें ही हैं। मैं जानता नहीं—वह बोल भी सकता है या नहीं। परंतु उसकी आँखों को देखने से लगता है जैसे उनमें कुछ भाव-व्यक्त होते रहते हैं। लोग कहते हैं कि इस व्यक्ति के निरीह और कष्टमय जीवन से दूसरे भिखारी लाभ उठाते हैं। वे लोगों की दया से कुछ न कुछ प्राप्त कर लेते हैं। और लोग प्रश्न करते हैं—इस जीवन से क्या लाभ? लाभ की बात तो मैं कहता नहीं और कह सकता भी नहीं। उसकी माप ही कुछ ऐसी है जिससे मुझे सब चीजें मापने में अड़चन ही लगती है, परंतु मैं सोचता हूँ उसके जीवन की बात!

मैं कह रहा था मानव के केन्द्र और आकर्षण की बात। हाँ! तो इसके जीवन में कोई केन्द्र होगा और कोई आकर्षण भी। मानव की बात लेकर हम कहते हैं—अमुक सेठ धन लेकर जीता है; अमुक लीडर यश की लालसा से काम करता है; अमुक रईस स्त्रियों को लेकर ही ज़िन्दगी में चलता है; अमुक व्यक्ति अपनी स्त्री पर प्राण देता है; अमुक निर्धन अपने बच्चों को देख कर ही जीता है; और आगे भी चलिए तो मालूम होता है—साधक अपनी साधना में जीता है, उपासक अपने उपास्य के आधार पर रहता है और महात्मा अपने चरित्र के विकास को लेकर चलता है। यह सब ठीक है। लेकिन इनके पीछे क्या सत्य छिपा है जो सभी को अनेक रूपों में छाये हुए है, घेरे

हुए है जिससे न योगी बचा है और न भोगी; न साधारण प्राणी और न महात्मा। मनुष्य ऐसा क्यों करता है? लेकिन केन्द्र बिना कोई चलेगा कैसे? आकर्षण बिना कोई टिकेगा कहाँ? मैं मानता हूँ—मनुष्य सुख ढूँढ़ता है और इसलिए यह सब करता है। आकर्षण एक है, पर केन्द्र भिन्न है। कोई योगी महात्माओं को लेकर प्रश्न कर बैठेगा—प्रश्न का उत्तर मैं नहीं दूँगा; लेकिन मैं मानता हूँ—सभी सुख के आकर्षण में अपने केन्द्र पर घूम रहे हैं'''हाँ! आप सुख को आनन्द कह सकते हैं, ब्रह्मानन्द कह सकते हैं—पर मैं समझता हूँ—सब सुख का प्रसार ही है।

मैं सोचता हूँ उसके जीवन में कौन सा सुख है और उस सुख का केंद्र कहाँ है? यदि जीवन है तो उसकी गति के साथ आकर्षण और केंद्र स्वयं सिद्ध है। अवश्य ही उसके जीवन में किसी न किसी अंश-पर आशा की गुदगुदी चल रही है, किसी न किसी सीमा से सुख का प्रवाह उसके शुष्क और संतप्त जीवन को सरस बनाए रखता है। जीवन के आरम्भ से ही एक टक लेटा हुआ, जिसकी इन्द्रियों ने कभी उसको तृप्ति नहीं दी; उसकी अपनी आँखों की चमक में कभी तो सुख का प्रकाश झलक ही जाता होगा। नहीं तो जीवन किस इच्छा के सूत्र पर टिका रह सकता; और इच्छाहीन जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। पाषाण-मूर्ति का निर्माण मनुष्य कभी कभी अपने रूप के आधार कर लेता है, परंतु स्पन्दनहीन जीवन की कल्पना असम्भव है। पाषाण-मूर्ति में भी जहाँ तक मानव की भावना काम करती है सुख-दुःख व्यक्त हो ही उठता है। दुःख सुख का ही दूसरा रूप है।

हम कभी अपनी कठिनाइयों से व्यथित होकर अथवा दूसरों के कष्टों में सहानुभूति के अतिरेक में या किसी व्यक्ति की पीड़ा पर दया से द्रवीभूत होकर कह उठते हैं—"इस जीवन में सिवा दुःख के कुछ नहीं, इससे मृत्यु कहीं अच्छी।" यदि वास्तव में इस कथन में कुछ सत्य होता, दुःख ही दुःख की कल्पना की जा सकती तो निश्चय ही वह व्यक्ति

इच्छाहीन होकर जीवन-मुक्त हो जाता। इच्छा तो दुःख-सुख के सम पर ही चल सकेगी। जब एक का अभाव हुआ तो, दूसरा भी नहीं रह सकता। और फिर जीवन के लिए आकर्षण चाहिए…केंद्र चाहिए।

* *

उस दिन माया के साथ मैं जा रहा था। रास्ते में वही स्ट्रेचर मिल गया। वह उसी प्रकार स्ट्रेचर पर लेटा हुआ था और दो व्यक्ति उसे ले जा रहे थे। माया भावुक है, उसने पूछा—"इस व्यक्ति का जीवन कितना असह्य कष्टमय है। आप कहा करते हैं कि मनुष्य-जीवन में कोई न कोई सुख का स्रोत अवश्य होता है जो उसे सिक्त करता है, हरा रखता है। नहीं तो जीवन की कल्पना सम्भव नहीं। बताइए न, इसके जीवन में कौन सा सुख हो सकता है?" उसके कंठ में वेदना थी।

मेरे मन में यह प्रश्न कितनी ही बार आया है, पर आज मैं जैसे इस प्रश्न के लिए विकल हो उठा। मैं चुप चाप मूक-भाव से विचार मग्न था। एक बार भगवान शंकर और भगवती पार्वती ने इस उद्देश्य से संसार का परिभ्रमण किया था कि क्या कोई व्यक्ति उनके उपास्यदेव की सृष्टि में ऐसा भी है जो सुखी ही सुखी है। परंतु, नहीं मिल सका था। उसी प्रकार मैं सोचता हूँ—'क्या संसार में कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो दुःखी ही दुःखी है!' अकिंचन मैं और मेरा प्रयास।

मैं विचार रहा था—क्या इस जीवन में सुख का अभाव है… लेकिन सुख का अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि सुख का अभाव माना जायगा तब तो दुःख का अभाव हुआ—फिर इच्छा के लिए आधार क्या होगा—और जीवन अपने किसी केंद्र पर ही, किसी आकर्षण से गतिशील है। मैं विचारों के प्रवाह में चला जा रहा था, माया ने बाधा पहुँचाई—"आप को हो क्या गया? मैंने तो वैसे ही पूछ लिया था। अपना रास्ता तो इस ओर मुड़ता है।" मैं कुछ लज्जित होकर गली में मुड़ गया।

❀ ❀

समय बीतता गया। पर मैं उसको—उसके प्रश्न को भूल नहीं सका था। वह स्वयं जैसे मेरे मन में प्रश्नाकार बनकर ठहर गया है। जब मैं अपने को खाली पाता—तो यह प्रश्न मेरे विचार का आधार बन जाता। एक दिन मैंने उसकी दृष्टि पर ध्यान विशेष रूप से दिया था। मुझे लगा था जैसे उसकी आँखों में किसी अदृश्य भावना की छाया खेलती है। उनमें कुछ चमक मालूम हुई और लगा उसमें इच्छा और आशा की कोमल और अदृश्य झलक है। जब इच्छा और आशा को पग रखने का स्थान मिल गया तो सुख-दुःख के लिए आधार भी प्रत्यक्ष हो उठा। परंतु उसकी आँखों की चमक को लेकर भी जीवन के केंद्र और आकर्षण की बात वैसी ही शेष थी।

उस दिन मैं पहाड़ियों के समानान्तर की सड़क पर आगे बढ़ रहा था। बाग में सैर करना मुझे अरुचिकर लगता है। उसमें न तो दृश्यों की नवीनता ही मिलती है और न अपने को खाली करने के लिए उन्मुक्त वातावरण। मेरे एक ओर थी वृक्षों की सीधी चली गई रेखा, और दूसरी ओर कुछ हटकर पहाड़ी श्रेणी चली गई थी। इनके बीच की सड़क पर मैं अपने आप चला जा रहा था—अनिश्चित और अनियंत्रित। मैं नीरव और चुपचाप एकाकी शून्य में दृष्टि फेंकता उद्देश्यहीन चला जा रहा था। एकाएक किसी वस्तु से मेरी दृष्टि टकरा गई—मन ने कहा कुछ परिचित है—देखा सामने स्ट्रेचर पर वही व्यक्ति सड़क के एक ओर रखा है। उसका एक साथी बैठा है, दूसरा पता नहीं कहाँ है। पर यह तो स्त्री है—उसका कोई साथी स्त्री भी है—इस पर मैंने ध्यान नहीं दिया था। लेकिन जैसे याद आता है कि यह स्त्री तो बहुधा ही उसके साथ रहती है। स्त्री पास ही बैठी है—और उस पर कुछ झुकी हुई है। पता नहीं कैसी थी—पर वह स्त्री थी और इसलिए उसके पास नारित्व भी था। और उस व्यक्ति की आँखों की चमक में थी लालसा, आशा, उल्लास और पता नहीं क्या!

स्त्री ने कुछ मुस्कराते हुए पुरुष की ओर देखा और अपने हाथ का चमकता हुआ रुपया दिखाया। पुरुष की आँखों में जैसे गर्वमय उल्लास था। नारी ने उसके मुँह की ओर इंगित किया जैसे पूछा हो "क्या खाने की इच्छा है।" और उसकी आँखों में विरक्ति का भाव झाँक गया। मुझे लगा पुरुष ने नारीत्व को दान दिया। स्त्री ने हँसते हुए रुपए को अपने ओठों पर लगा लिया और इस प्रकार खाने का अभिनय किया। उसकी आँखों में पुरुषोचित गर्व के हर्ष का भाव अभिनीत था। उसके बाद उनकी आँखों में क्या भावों का आदान-प्रदान हुआ, मेरी कल्पना के परे की बात है। मैं तो केवल देख सका —उसकी बड़ी आँखों में जैसे तृप्ति थी, संतोष था।

आगे मैं रुक न सका। मेरा प्रश्न मेरे मन में नाच रहा था—आख़िर जीवन में कोई आकर्षण और उसका कोई केन्द्र होगा ही—नहीं जीवन गतिशील कैसे होता—उसकी श्वासों का स्पन्दन कैसे चलता? मैं सोच रहा था—काश माया को भी दिखा सकता।...यह जीवन का आकर्षण और उसका केन्द्र—सुख की अज्ञात भावना।

❀ ❀

सापेक्षसत्यः—

सारा ब्रह्माण्ड घूर्णवेग से चल रहा है...सौर्य-मण्डल गतिमान है...पृथ्वीमण्डल घूम रहा है...और प्रत्येक अणु परमाणु अथक गति से प्रवाहमान् है। साथ ही किसी केन्द्र की बात कही जाती है...किसी आकर्षण-शक्ति का उल्लेख किया जाता है। पर जब समस्त सृजन गतिमान् है—परिवर्तनशील है और समस्त सृजना प्रवाह का रूप ही है, तब कौन किसका चक्कर लगाता है, कौन किससे आकर्षित होता है। और फिर कौन किसको सीमादान करेगा...देश की स्थिति क्या होगी, काल का रूप क्या होगा? पर ऐसा ही कुछ नहीं है, हम ऐसा सोचते भी नहीं—। नहीं तो हमारा सारा ज्ञान-विज्ञान असत्य कल्पना मात्र रह जाय। फिर ससीम मानव कुछ सीमाएँ मानकर ही आगे

बदला है—और इन सीमाओं की उसे अपेक्षा भी है।

फिर मानव अपनी सीमाओं में तो देखेगा...कितना ही वह क्यों न जान ले, समझ ले—पर वह अपनी अपेक्षा कैसे भूल जायगा—फिर चारों ओर की सापेक्षता भी बनी रहेगी। और हम कहेंगे दुःख-सुख, गरमी-सरदी, रात-दिन, जीवन-मृत्यु। अपनी सीमाओं में यह सब सत्य मानकर चलता है। और यही नहीं, मानव भी अपने दृष्टिकोणों में भिन्न होकर मानव-सत्य को भी एक सा नहीं देखते। यह सत्य भी व्यक्तिगत सीमाओं की सापेक्षता लेकर चलता है। और हम कहते हैं—'अमुक व्यक्ति दुःखी है,' उसी समय दूसरा व्यक्ति कह सकता है—'वही अमुक सुखी है'। फिर सुख-दुःख हमारे सामने आता है, इन्हीं सीमाओं की अपेक्षा लेकर।

❀ ❀

नगर के बाहर फाटक पर कुछ कुष्ट-रोगी पड़े रहते हैं। नगर के बाहर के, मार्ग पर रहने से इन कुष्ट-रोगियों को आने जाने वालों से याचना करने की सुविधा है। इसी कारण वे वहाँ जमा रहते हैं। अंग-गलित होने के कारण विशेष घूम फिर कर कुछ माँग जाँच सकते नहीं। नगर धनाढ्य और विशाल है, लक्ष्मीपुत्रों की कमी नहीं। उनकी ऊँची विशाल अट्टालिकाएँ अपने वैभव पर, मानव वैभव के रूप में इठला रही हैं। परन्तु इन धनियों को अपने ऐश्वर्य और वैभव के बीच कभी इन चिथड़ों में लपटे निरीह मानवों को देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। और अगर अकस्मात् दृष्टि पड़ ही गई तो वे केवल उपेक्षा की हँसी हँस देते हैं या दया के भार के रूप में एक आध पैसा फेंक देते हैं। और मुझे लगता है नगर के इस भाग में मानवता का उपहास एकत्रित हो गया है। मानव अपने वैभव पर कितना ही इतराले, पर जब तक उसीके नगर के एक कोने में एक मानव का भाग इस प्रकार गलित पड़ा हो, उनका अभिमान थोथा है···यह उनका उपहास है—मानवता का कलंक है।

मैं जब उस ओर से निकलता हूँ, मेरे मन में इसी प्रकार के विचार चक्कर लगाया करते हैं। परन्तु, इनको देखकर लगता है मानवता के इस अंश ने अपनी सुख-दुःख की अलग सापेक्ष माप रखली है—और उसके अनुसार वे सुख भी पाते हैं और दुःख भी, हमारे दृष्टिकोण के अनुसार उनके जीवन में केवल दुःख ही दुःख हो ऐसा नहीं लगता। एक दिन माया ने उनको देखकर कहा—"कितना दुःख और कष्ट है इनके जीवन में, इनका जीवन कितनी निरीह और दीन दशा में पतित हो रहा है।"

मेरे विचारों का केन्द्र भी वे ही कष्ट-रोगी थे; मेरे मुँह से अनायास निकल गया—"नहीं माया इनके जीवन में केवल दुःख और कष्ट ही हो ऐसा नहीं। यह तो हमारी अपनी सीमाओं की माप है।"

इस उत्तर से वह कुछ चकित थी—"तो क्या मानव की दुःख-सुख की सीमाओं का रूप भी भिन्न है।"

मैं कुछ गम्भीर था—"मानव ने अपने विकास में व्यक्तित्व पाया है; और व्यक्ति के अलग अस्तित्व के साथ उसकी सीमाओं के भिन्न होने में आश्चर्य क्यों ?"

❀ ❀

उस दिन मैं अकेला टहल कर लौट रहा था। नित्य ही अँधेरा हो जाता था पर उस दिन कुछ रात जा चुकी थी। मैं देर होने के कारण तेज़ गति से आगे बढ़ रहा था। परन्तु नगरकोट के पास आते-आते मेरी चाल स्वयं धीमी हो गई। किसी अज्ञात प्रेरणा से आँखें चारों ओर दौड़ने लगीं—कान भी सचेष्ट हो गए और हाथ चेष्टर की जेब में पहुँच गए थे, जैसे किसी घटना के लिए तत्पर हो गए हों। मन ने भी जैसे सोच लिया था—चलो आज देर ही सही—पढ़ाई यों ही स्थगित रही और खाने के साथ जीजी की मीठी झिड़कियाँ कुछ बुरी नहीं रहेंगी। अब तक मैं फाटक के सामने वाले आँगन में पहुँच चुका था। एक ओर दिवाल के सहारे दो कुष्ट-रोगी अपनी अपनी गुदड़ियों

में लिपटे-लिपटाए पड़े थे—उन्होंने अपने शरीर को भरसक अपनी गुदड़ियों से ढक रखा था। वे दोनों कुछ इस प्रकार सन्निकट थे कि वार्तालाप आसानी से हो सकता था, जो किसी दूरस्थ रोगी को सुनाई न दे। वे जैसे कुछ बातें कर रहे थे—मेरा ध्यान आकर्षित हो गया।

"आज तो बहार ही और है, मेदनी! ज़रा देख तो सही कैसे मज़े की चाँदनी छिटकी है।"

मेदनी ने अपनी गुदड़ी के अन्दर से कर्कश स्वर में उत्तर दिया—"वाह रे मरदुए! यहां तो सर्दी के मारे प्राण निकलते हैं और इसको अपनी बहार की सूझी है।"

पुरुष ने फिर उसी उल्लास के स्वर में कहा—"नहीं हँसी नहीं! देख कैसी चाँदनी उमड़ रही है—और सड़क कैसी सुनसान है। देख तो सही—तू अपना मुँह भी गुदड़ी से निकालेगी।"

मेदनी का स्वर और भी तीव्र हो उठा, पर वह गुदड़ी के अन्दर से कह रही थी—"तू अपने को समझता है क्या, रे सुधइया! मेरी रजाई को गुदड़ी कहेगा। अभी इसी जाड़े में तो मुझको उस कोठीवाले के यहाँ से मिली है, और तू आया कहनेवाला गुदड़ी। अपनी चार साल पुरानी गुदड़ी तो देख।"

सुधई की आत्मा जैसे इस प्रकृति के वातावरण में भावुक हो उठी हो; और वह चाहता था कुछ कोमल आश्रय। मेदनी के इस नीरस व्यवहार से वह क्षुब्ध होकर बोला—"तेरी आदत बहुत बुरी है मेदनी। जरा जरा सी बात पर तुनगने लगती है। अच्छा तेरी रजाई लिहाफ़ सही और मेरी गुदड़ी। लेकिन मुँह तो निकालेगी बाहर। मैं यहीं तो कह रहा था—तेरी रजाई तो अभी नई ही है—उससे तो जाड़ा कम ही लगता होगा।"

इस चापलूसी से मेदनी कुछ नर्म पड़ी और खुश भी हुई। उसने अपनी गुदड़ी का कोना खिसकाकर मुँह खोल लिया। उसके मुँह पर कुष्ट के कोई चिह्न न थे। उसने फिर भी कुछ तीव्र स्वर में ही कहा—

"ले क्या करेगा मेरे मुँह को; खोल तो दिया।"

सुधई ने जैसे संतोष से कहा—"हाँ अब ठीक! आज जी कैसा कैसा हो रहा है। इस चाँदनी में किसी से दो बातें करने का जी होता है। और तू है कि काटने दौड़ती है।"

मेदनी की स्त्री-प्रतिभा इस कठोर सत्य को सहन न कर सकी—उसने उग्र होकर कहा—"हाँ-हाँ-रे—क्यों नहीं, मैं कुतिया हूँ और तू बड़ा मिठुआ है न।"

सुधई ने संधि के भाव से प्रतिकार किया—"तुझको आज हो क्या गया? तुम तो जैसे लड़ने पर उतारु हो गई हो।"

मेदनी ने बनावटी दृढ़ता से कहा—"तो क्या मैं तेरी रखेली हूँ जो तुझ से दब जाऊँ।"

सुधई ने समझ लिया कि वह इस प्रकार मेदनी से पेश न पा सकेगा—उससे पार पाना ही कठिन है। इस कारण उसने बात का प्रवाह दूसरी ओर करते हुए कहा—"अगर मैं कल यहाँ से अकेला चल दूँ तब तुम क्या करो।" उसके कंठ में विरागपूर्ण दुःख था।

मेदनी ने किसी अज्ञात विश्वास के आधार पर ही जैसे कहा—"हाँ हाँ तो चला न जा, धमकी किसे दिखाता है। अभी ही चला जा, मेरी बला से।" परंतु उसकी बात का असत्य प्रकट था।

सुधई ने अंतिम अमोघ का प्रयोग किया, कोमल स्थान पर चोट की "अच्छा मेदनी—अगर मैं मर ही जाऊँ तो।"

लक्ष्य ठीक था, कोमल स्थान पर चोट पहुँची। मेदनी अधिक सह न सकी, वह परास्त थी—"तुम्हें हो गया है! आज यह जीने मरने की क्यों लगा रखी है।......और मेरा ही कौन ठीक है; मैंने ही कौन अमर फल खाया है।" वह बिलकुल शांत हो चुकी थी।

सुधई ने फिर उसी स्थान पर आघात किया "अच्छा मेदनी, सच-सच बताओ; क्या तुमको मेरा जरा भी कलक नहीं है।"

मेदनी की आँखें फूल गईं; वह अपने को छिपाने में अब असमर्थ

थी। उसने करवट बदलते हुए बनावटी स्वर में कहा—"चलो हटो भी; तुम बड़े दुष्ट हो। तुम्हारी ये बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।"

सुधई समझ चुका था कि मेदनी कितने पानी में है। उसने कहा—"अच्छा मेदनी! इधर मुँह तो कर। तुझे दिखाऊँ मैं तेरे लिए क्या लाया हूँ।"

मेदनी—"हाँ? जानती हूँ! तुम्हें चकमा देना खूब आता है; बड़ा आया देनेवाला।"

सुधई—"यही तो तेरी आदत बस मुझे अच्छी नहीं लगती। मैंने कौन सी चीज़ बिना तुम्हें दिए खाली है। और अगर नहीं—तो नहीं सही। लेकिन देख आज क्या लाया हूँ! आज मुझे एक बाबू साहब से पासिंगशो सिगरेट मिल गया है—बड़ा मज़ा आयेगा और जाड़ा भी कम होगा।"

इस सिगरेट ने तो जैसे मेदनी पर मोहनी मंत्र ही डाल दिया हो। झट करवट बदलकर उसकी ओर मुँह करके बोली—"कहाँ है देखें।"

सुधई ने धीरे से एक डिब्बे से सिगरेट निकाली—"यह रही। एक नहीं; दो दो। एक बाबू साहब ने मुझे डिब्बा ही दे दिया। उसमें दो निकलीं। एक सुबह के लिए और एक अभी। अब निकाल तो चटपट माचिस।"

मेदनी के लिए पहले गुदड़ी से मुँह निकालना भी कठिन था, अब वह उठ बैठी। उसने अपनी गुदड़ी के आठ परतों से दियासलाई निकाली और सुधई के हाथ में रख दी। सरसर खर करती दियासलाई की तीली खींची गई और प्रकाश हो गया। सिगरेट में दियासलाई लगाई गई; मेदनी अपने मुँह से उसे सुलगा रही थी, दोनों के मुँह पर प्रसन्नता झलक रही थी। फिर दोनों लेटकर एक दूसरे को देकर उसका स्वाद ले रहे थे। धुआँ की रेखाएँ निकलकर मिट जाती थीं। उनकी आँखों में क्या था? पता नहीं। राग था? कहा नहीं जा

सकता ; लेकिन तृप्ति का उल्लास अवश्य था।

अरे! घड़ी में ग्यारह बज रहे थे ; देर हो रही थी। शीघ्रता से पग बढ़ गए अपने मार्ग पर—पर सोच रहा था इनके ही सुख की बात। याद आया—दीदी खाना लिए बैठी होंगी मेरे लिए और जाते ही एक मीठी डाँट पड़ेगी। सिर नंगा था—ठंढ लग रही थी—पैर स्वयं ही तेज़ी से पड़ रहे थे—और मैं अब भी सोच रहा था—

मानव के सुख दुःख की सापेक्ष सीमाएँ!

घर का रास्ता

(स्थान—ट्रेन-यात्रा
सीतापुर से मिसरिख,
वर्द्धमान से लखनऊ)

(काल—अक्टूबर ४६ ई०)

देहरा डाउन एक्सप्रेस, लखनऊ के विशाल और भव्य प्लेटफ़ार्म को छोड़ रही थी। खोंचेवालों और सौदा बेचनेवालों ने अपना रुख़ फेर लिया था। केवल कुछ लोग उत्सुक निराशा लिए प्लेटफ़ार्म पर सरकती हुई ट्रेन को देख रहे थे। कुछ लोग हिलते हुए रूमाल से ट्रेन को विदा दे रहे थे, जैसे किसी अव्यक्त भावना को छिपाने के लिए अपना उल्लास प्रकट कर रहे हों। एक कम्पार्टमेंट के दरवाज़े पर कोई युवक खड़ा यह सब देख रहा था। वह चुपचाप निरपेक्ष स्थिति में पीछे छूटते हुए प्लेटफ़ार्म को देख रहा था। ट्रेन खट-खट-करती रेल के पोआइन्ट पार कर रही थी—और उसके लिए जैसे धीरे धीरे प्लेटफ़ार्म का छूटता जाना स्वाभाविक, सहज बात हो। वह युवक अब भी दरवाज़े की खिड़की पर सहारा लेकर खड़ा था—और धीरे धीरे मिटते, ओझल होते प्लेटफ़ार्म पर ही उसकी दृष्टि लगी हुई थी। उसकी आँखों के सामने अब भी रुमाल फरफरा रहे थे—उसके मन में अब भी अपने आप में डूबे हुए लोग प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे। अब ट्रेन शहर के एक भाग से होकर गुज़र रही थी—चर्चयार्ड—कालिज सब छूटते चले जा रहे थे। फिर एक नई बस्ती

के कुछ सीमेन्ट के फ़्लैट पीछे दौड़ते छूट रहे थे। युवक ने प्लेटफ़ार्म की कल्पना को झाड़ते हुए अन्यमनस्क भाव से इन फ़्लैटों की ओर देखा—सामने—पास ही के फ़्लैट के पोर्टिगो में खड़ी एक स्त्री अपने गोद के बच्चे को अंगुली से ट्रेन दिखाती हुई पीछे छूटती जा रही थी। युवक की उखड़ती हुई कल्पना इस दृश्य पर जम गई—वह देख रहा था—और स्त्री तथा बच्चा धीरे धीरे सामने से अदृश्य हो गये; परंतु वह जैसे अब भी देख रहा हो। इस देखने के भाव के साथ उसके सामने प्लेटफ़ार्म पर खड़े हुए लोगों की कल्पना फिर प्रतिघटित हो उठी उसकी आँखों में मिटते हुए रुमाल फरफरा उठे। फिर जैसे बाहर से ऊब उठा हो, उसने मुड़कर देखा कम्पार्टमेंट बिलकुल सूना है। दरवाज़े से हटकर वह अपनी बर्थ पर गया; और अपने बिछे हुए बिस्तर पर धोक लगा कर लेट गया। उसने आँखें बन्द कर लीं—पर उसके सामने अपने आप में डूबे हुए व्यक्ति और बच्चे को गोद में लिए हुए स्त्री मिटकर भी नहीं मिट रही थी। उसकी अस्पष्ट कल्पना विचारों में सामने आने लगी।

'ट्रेन धीरे धीरे रुक जाती है, और धीरे धीरे तेज़ भी हो जाती है। ट्रेन में चलनेवाले सभी कम्पार्टमेंट में अपना स्थान बनाए—ट्रेन की गति के साथ ही चलते जा रहे हैं। फिर ये प्लेटफ़ार्म पर ही मूक—मौन उदासीनता का बोझ लादे क्यों रुक जाते हैं। उत्साहित प्रसन्नता के प्रदर्शन में अपने मन के बोझ को छिपाकर प्लेटफ़ार्म पर ही रुक जानेवाले कौन हैं ये! ट्रेन की गति में अपना मन लगाए ये क्यों पीछे ही छूट जाते हैं। माना ट्रेन में गति है—उस गति के प्रति, जानेवाले की यात्रा के प्रति उनके मन में आकर्षण होना स्वाभाविक है। फिर यात्रा और गति के आकर्षण से मन बाँधकर ये रुके क्यों हैं—किसी गहरी उदासीनता ने उन्हें निरपेक्ष सा क्यों बना दिया है? वह दूसरा कौन सा आकर्षण है—वह दूसरी कौन सी शक्ति है, जो इन्हें ट्रेन की गति के साथ दौड़ने नहीं देती।

ट्रेन तो किसी को रोकती नहीं, वह अपनी गति में किसी का बोझा मानकर नहीं चलती। झक-झक करती ट्रेन तो आवाहन करती है— निमंत्रण ही देती है। फिर आख़ीर ये लोग गति का आकर्षण...यात्रा का मोह लिए क्यों खड़े हैं ?'

उसने एक बार आँखें खोलकर फिर बंद कर लीं। लगा ट्रेन पास की घनी होती हरियाली को चीरती हुई सर-सर चली जा रही है···घुलती हुई लालिमा—मिटते हुए प्रकाश के साथ धुंधली होती जा रही थी।

'और स्त्री तथा उसका बच्चा जिसे वह संकेत से भागती ट्रेन दिखा रही थी। यह फ़्लैट उसका घर ही होगा—और बच्चा भी उसी का हो सकता है। तो वह अपने बच्चे को दिखा रही थी ट्रेन, उसकी गति, उसपर यात्रियों की भीड़। स्त्री अपने घर में ही खड़ी है और बच्चा भी उसकी गोद में है। बच्चे को ट्रेन की गति की ओर आकर्षित करने से लाभ! बच्चा तो उसका ही होगा; फिर वह बच्चे को यात्रा के प्रति उत्सुक क्यों कर रही है। बच्चा खुश होकर ही तो देख रहा था। बड़ा होकर यही बच्चा, ट्रेन के, यात्रा के आकर्षण से यदि एक दिन यात्री बन गया ? यह स्त्री उसे कैसे रोक सकेगी। उसके पास कौन सा आकर्षण है! सम्मोहन है! जिससे इस यात्रा के मोही को वह रोक सकेगी—लौटा सकेगी...स्त्री अपने घर के द्वार पर ही तो खड़ी है।'

सर सर तैरती हुई एक्सप्रेस ने एकाएक सीटी दी—फिर जैसे झटकों के साथ खट-खट करती हुई आगे बढ़ती जा रही थी। घट-कट सट की आवाज़ एक दम से गूंज उठी। घटाघट, खटाखट करती हुई ट्रेन जैसे किसी चीज़ से टक्कर लेती हुई आगे बढ़ रही थी। शोर बढ़ गया—गर्जन करती हुई ट्रेन जैसे और भी अधिक तेज़ी से किसी चीज़ को पार कर गई। युवक ने आँखें बंद किये ही जान लिया कोई छोटा स्टेशन पार हो गया! ट्रेन फिर पहली गति से सरसर करती तैरने लगी।

'हाँ ठीक है ! एक बात और भी है । ट्रेन से न जाने वाले प्लेटफ़ार्म पर खड़े हुए वे व्यक्ति ही, हों ऐसा नहीं है । ट्रेन से कुछ लोग—इसकी गति और अपने यात्रा के आकर्षण को छोड़कर उतर भी तो गए हैं; उनको भूला ही था । वे उतरते समय कैसे व्यग्र थे, उतरने के लिए कैसे उतावले—फिर ट्रेन के रुकते ही वे किस विह्वलता से जल्दी उतरने के लिए आकुल हो उठे थे । और उतरने के बाद फिर किसी ने एक बार ट्रेन की ओर देखा भी नहीं—जैसे सभी की दृष्टि कहीं प्लेटफ़ार्म के बाहर किसी स्वप्न को देख रही हो । उनके मन किसी ऐसे अज्ञात आकर्षण से खिंच रहे थे—जिससे उनको दो क्षण का रुकना भी असह्य हो रहा था । और फिर ट्रेन की गति का आकर्षण, यात्रा का मोह—उसका क्या हुआ ।'

युवक ने अपने विचारों को आधार देने के लिए आँखें खोलीं । उसे भान हुआ ट्रेन उसी गति से भाग रही थी । क्षितिज पर लाली घुल कर अँधेरे में लगभग मिल चुकी थी । चारों ओर फैला हुआ पेड़ों का समूह अपनी हरियाली को अँधेरे में डुबोकर एक रस हो रहा था—और ट्रेन उस फैलते हुए अंधकार को चीरती हुई भागी जा रही थी । युवक ने धीरे धीरे पलकें फिर बंद करलीं; और वह रुक रुक, धीरे-धीरे विचारों में बढ़ रहा था । उसके विचारों पर बहुत हलकी कल्पना के रंगों की छाया भर पड़ रही है ।

'स्त्री बच्चे को अंगुली के इंगित से ट्रेन की ओर आकर्षित करती है और वह अपने घर के द्वार पर खड़ी है ।'''ट्रेन को विदा देते हुए कुछ लोग उदास डूबे-डूबे खड़े हैं......पर कितने ही लोग ट्रेन के रुकने के साथ ही उतरकर व्यग्रता से प्लेटफ़ार्म से विलीन हो गए हैं । इतनी सब आकुलता व्याकुलता क्यों ? लेकिन—ओऽ इतनी सी ही बात तो है । ट्रेन से उतरना तो है ही—मुझे बनारस उतर जाना है और उन्हें लखनऊ उतरना था । लेकिन फिर भी—मैं बनारस उतरूँगा, तब मेरा यात्रा के प्रति आकर्षण तो कम नहीं होगा । मुझे तो यह लगता नहीं

यात्रा छूट रही है। ऐसा ही सदा लगता है—यात्रा कर रहा हूँ—चला जा रहा हूँ—कहीं रुकना हो ऐसा तो लगता नहीं। ट्रेन की गति तो उस यात्रा की एक प्रत्यक्ष अनुभूति भर है, जो जीवन के अनन्त क्षणों में ऐसा लगता है समाप्त नहीं होगी।......फिर ये दूसरे यात्री कैसे विह्वल और व्यग्र चढ़ते उतरते रहते हैं। यदि यात्रा का आकर्षण है तो उतरने के लिये विवश क्यों! यदि गति से ही वितृष्णा है तो चढ़ने के लिए बाध्य क्यों? लेकिन हो सकता है उतरनेवालों को लखनऊ में कुछ काम हो। हाँ, ठीक ही तो मैं भी बनारस में पार्टी की मीटिंग के लिए उतरूँगा। सब कुछ सही! पर यह व्यग्रता क्यों? लौटने की जल्दी—पर सभी जल्दी लौटनेवाले हों ऐसा तो नहीं।'

इस बार युवक का ध्यान अपने कम्पार्टमेंट की ओर गया—अँधेरा छा गया—सुइच ऑन नहीं था, पंखा चल रहा था। युवक को जैसे हलकी ठंढ लग रही थी। कम्पार्टमेंट बिलकुल खाली था। उसे तो ख़बर की गई थी कि इसमें दो सीट लखनऊ से किसी सज्जन की रिज़र्व हैं। फिर वे नहीं आ सके—नहीं आए। युवक कम्पार्टमेंट के अँधेरे में कुछ पाना चाहता था। और उसे लगा—फ़्लैटवाली स्त्री खड़ी हो—उसका घर उसके पीछे है; ट्रेन धीरे-धीरे रुक रही हो, लोग व्यग्र उतर रहे हैं; ट्रेन धीरे-धीरे जाती हो—प्लेटफ़ार्म पर कुछ लोग डूबे डूबे खड़े हैं और फरफराते हुए रूमाल। युवक समझ रहा था उसके कम्पार्टमेंट में अँधेरा है और वह बिलकुल अकेला है। अन्य सज्जन जिन्होंने दो सीट रिज़र्व कराई थीं, कदाचित् किन्हीं कारणों से नहीं आ सके थे।

'ये सज्जन सीट रिज़र्व कराके भी नहीं आ सके।......हाँ सभी को लौटने की जल्दी हो ऐसा तो नहीं—। फिर यदि लौटकर यात्रा ही आरम्भ करनी है, तो भी इतनी उतावली—इतनी व्यग्रता का कारण? और ये रुक ही गये—सम्भव है इनकी स्त्री—लेकिन बाहर लिखा था

सफ़ा ही लिखा था Mr. and Mrs. । फिर शायद किसी दूसरे ने रोक लिया हो । और हाँ—आज तो दीवाली है ।'

युवक की दृष्टि बाहर की ओर आकर्षित हो उठी—उसने देखा ट्रेन किसी शहर में प्रवेश कर रही थी । शहर का यह भाग सघन नहीं था, केवल कुछ बँगले और कोठियाँ आदि लगती थीं—और उन पर दीपकों की पक्तियाँ जगर-मगर करती भागी जाती थीं । दूर शहर में भी प्रकाश के दृश्यों का लुकता छिपता हुआ आभास मिल रहा था । युवक की आँखों में प्रकाश की रेखाएँ ही आ रही थीं और सब दृश्य उन्हीं में डूब हुए थे । उसी प्रकाश की रेखा में—जैसे—बच्चे को गोद में लिए हुए वह स्त्री खड़ी है—और उसके पीछे उसका घर है । ट्रेन धीरे धीरे बाराबंकी स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर आ चुकी थी···युवक ने खिड़की के बाहर सिर निकालकर झाँका प्लेटफ़ार्म पर वही हलचल ! कोलाहल ! व्यग्रता !! युवक ने जैसे अपने से ही कहा—"और आज दीवाली है ।"

* *

ट्रेन स्टेशन छोड़ चुकी थी—और अपनी पूरी गति से हर हर करती अँधेरे के दौड़ते हुए झुडों को पार कर रही थी । बड़े बड़े आकारवाले भूत जैसे चारों ओर से घेरते आते हों—दौड़ते आते हों—पर ट्रेन झक-झक करती सर-सर अपना रास्ता पार करती जाती थी । आकाश में तारे स्थिर थे—जैसे इस लीला पर मुस्करा रहे हों । और बीच बीच में किसी गाँव का हलका प्रकाश चमक जाता था—बस । इस सब को देखते हुए भी युवक के मन में ट्रेन से उतरने वालों और चढ़ने वालों का चित्र नहीं मिट सका था । उसे पता नहीं चला कि गाड़ी कब स्टेशन को छोड़कर आगे दौड़ी जा रही है । वह विचार रहा था ।

उसके विचारों पर कल्पना की छाया गहरी हो रही थी ।

'आज दीवाली है—। लोग उतरते हैं और चढ़ते भी । और आते

आते रोक भी लिए जाते हैं। यही जिन्होंने सीट रिज़र्व करवाई थी रुक ही गए—किसी ने रोक लिया, आकर्षण की किसी सीमा ने घेर लिया और वह सम्मोह, यात्रा के आकर्षण से अवश्य अधिक होगा। हाँ होगा ही—नहीं तो कोई रुकता ही क्यों? फिर—अपने घर की सीमा लिए स्त्री अपने बच्चे को गोद में लिए खड़ी है। हाँ! फिर आज दीवाली भी तो है।'

युवक को लगा जैसे ठंडक अधिक है—उसने अपने ऊपर रैपर खींच लिया। कम्पार्टमेंट अब भी अंधकार में सूना था—फ़ैन अब भी चल रहा था और उसे लग रहा था गाड़ी रुकी हुई हो। ट्रेन सन सन पार होती जा रही रही थी। उसका मन अब जैसे अधिक अस्पष्ट विचारों से भर रहा हो—और कल्पना गहराई से ऊपर आती जा रही थी।

जगर-मगर करती अतीत की दिवाली—और आज की अपनी सीमा लिए खड़ी स्त्री—जैसे दोनों चित्र मिले जा रहे हैं—एक हुये जा रहे हैं। ठीक ही तो है—यह घर की सीमा ही तो है जिसे बाहर के प्रबल आकर्षण से भी लाँघा नहीं जाता। इसी के लिए तो यात्री आतुर होकर उतर रहे हैं—और कदाचित् इसी के लिए चढ़ भी रहे हैं—स्पष्ट ही तो सारी व्यग्रता और उत्सुकता उसी के प्रति है। और—वे प्लेटफ़ार्म पर खड़े हुए व्यक्ति... अपने में डूबे हुए... फरफराते हुए रुमाल—सभी उसी सीमा के साकार आकर्षण हैं। इस सीमा से जाने का अर्थ ही जैसे कुछ नहीं है—जाने वाला भी लौटने के लिए ही जा रहा है। औऽ फिर यह गति और उसका आकर्षण—क्या वह उसके लिये कुछ नहीं। उनका जीवन ही गति है—फिर अपना आकर्षण क्या? माना गति तो चलना ही है; मुझे भी तो ट्रेन की गति में कोई नवीनता नहीं लगती। पर यात्रा—और गति की अनुभूति—क्या कुछ है ही नहीं—। उसका आकर्षण कुछ माना ही नहीं जा सकता।

ट्रेन कुछ धीमी हो गई, पास ही किसी ज़मींदार की कोट के

हज़ारों दीपकों-का प्रकाश नाच उठा। ट्रेन ने उस स्टेशन पर दो मिनट का Stopage लिया; और वह फिर धीरे धीरे आगे तेज़ होती जा रह थी। परन्तु दीपकों के प्रकाश ने जैसे युवक के मन में गहराई से कह दिया हो—'आज दीवाली है।'

'आज दीवाली है।...यात्रा और गति का आकर्षण क्या कुछ नहीं है। कुछ घंटों पहले ही तो मैंने भी घर छोड़ा है—हाँ घर ही तो—। प्लेटफ़ार्म की स्त्री घर की सीमा लिए खड़ी है। मैं चलने वाला था—चल भी दिया—उसी घर को छोड़कर जिसके आकर्षण में लोग ट्रेन में चढ़ रहे हैं और ट्रेन से उतर रहे हैं। मेरे लिए तो जैसे यात्रा का आकर्षण ही सब कुछ हो उठा है—और घर...।'

'बिस्तर बांधा जा रहा है—बड़ी भाभी मझली से कह रही हैं—मझली! यह भी कोई बात है—ऐसे भी लच्छन। चार अंगरेज़ी की किताबें उलटने से ही सब कुछ नहीं आ जाता—। घर में शगुन अशगुन का विचार भी गया—भला त्योहार को भी कोई घर छोड़ता है।'' और मझली, जैसे मन की सारी वितृष्णा ! से कह रहीं हैं—''जीजी-मुझसे क्या कहती हो, तुम्हीं देखो! जब कोई घर को घर समझे...।'' और घर की सीमाओं में जैसे कोई बंधन ही न हो—उसके आकर्षण में कोई शक्ति ही निश्शेष न हो। मैं सोचता हूँ—यात्रा का आकर्षण ही क्या मेरे लिए सब कुछ है।'

'कार स्टार्ट हो चुकी है—मझले भइय्या उदास मन से पूछते हैं—''मनहर! रुक नहीं सकोगे, तुम्हारी मीटिंग तो दो दिन बाद है। लेकिन तुम जाओगे ही—मैं समझता हूँ...अच्छा जाओ। मैं स्टेशन तक चलता—लेकिन, अच्छा आशीर्वाद।'' घर की सीमा किसी कठोर स्थिति से टकरा कर लौट गई। चेतना को कोई अज्ञात लहर डुबोए हुए है—ट्रेन की गति के साथ मैं चल रहा हूँ—जैसे यात्रा का आकर्षण ही मेरी चेतना की क्रिया का रूप हो उठा है।'

युवक को लगा हवा अधिक ठंडी हो—उसने पास की खिड़की का

शीशा चढ़ा लिया . सामने की खिड़की अब भी खुली थी—उसने रैपर को और ऊपर कर लिया। उसे लग रहा था—उसकी आँखों में नींद है, विचार का बोझा उसे भारी लग रहा था। पर अब भी नींद आ रही हो ऐसा नहीं। विचारों से बोझिल मन पर कल्पना का हलकापन छाता जा रहा था।

* *

'बालक ललचाई दृष्टि से दूसरे लड़कों को खेलता देख रहा है—लड़के दौड़ दौड़ कर पैर से गेंद को मारते हैं—गेंद कैसा उछलकर दूर जा पड़ता है—दूसरा लड़का पैर से ही गेंद को दूसरी ओर फेंक देता है। गेंद उछल रहा है—लड़के भी दौड़ और उछल रहे हैं। बालक गेंद को ध्यान से देख रहा है, फिर जैसे उसका पैर गेंद को मारने के लिए उठ जाता है। उससे रहा नहीं जाता, वह पुकार उठता है—"सरला दीदी। मैं भी...।" लड़की दौड़ती हुई ही हाँथ हिलाकर कहती है—"ना भाई! तुम कहीं गिर गए और रोने लगे तब।" बालक ने जैसे कहना चाहा—"मैं कहाँ रोता हूँ।" वैसे ही लगा जैसे वह रोना चाहता है। बालक नहीं समझ रहा है; लेकिन युवक को लगता है वह सब समझ रहा है।'

'घर में कोई घटना हो गई है। उसको लेकर घर में शोर और कोलाहल के बीच में रोना-धोना हुआ—उससे व्याकुल होकर बच्चा भी रोया था। उसी समय से जैसे उसके मन पर बोझा है; उस पर कुछ भी चोट पहुँचते ही उसे रोना ही याद आता है। बालक रोता है और खूब रोता है। लोग नहीं समझ पाते हैं। युवक समझ रहा है। बालक को लगता है—एक कोमल कोमल हलकी हलकी चीज़ उसके शरीर और मन को छाये रहती थी, अब वह हट गई है। जिससे उसका अस्तित्व आच्छादित होकर सुरक्षित था—जैसे वह आच्छादन हट गया हो.........।'

'बच्चा लोगों से पूछता है—"माँ कहाँ है।" कोई कह देता—

"दूर बहुत दूर।" वह अनुमान लगाता 'बहुत दूर' और सोचता "माँ कब लौटेगी।" अब जब कोई स्त्री उसे बेचारा कह कर गोद लेने लगती है—वह रो उठता है। कोई पुचकार लेता है—तब भी वह रुआँसा हो जाता है। बालक समझ नहीं पाता—पर युवक समझता है। बालक जैसे अपने ऊपर छायी हुई छाया को—अपने आगे बढ़े हुए हाथों को—चिपटकर लेटने के लिए कोमल गोद—और उसी के पीछे लगी हुई किन्हीं आँखों को अज्ञात-रूप से खोजा करता है।'

'बालक सचमुच अलग जाकर रो रहा है।'

कोई स्टेशन आया—ट्रेन रुकी और चल भी दी। युवक आँखें मूँदे अपनी कल्पना में लीन था। ट्रेन झक-झक करती आगे बढ़ती जाती थी—और उसकी गति तेज़ हो रही थी।

'बालक देखता है घर में कोई स्त्री औरों से भिन्न है। उसका मुँह घूँघट में ढका रहता है—वह कम बोलती भी है। उसे जैसे वह अच्छी लगती हो। वह लुक छिप कर इस नई बहू को देखता—वह देखना चाहता है उस घूँघट में क्या रहस्य है। लेकिन उसे अवसर ही नहीं मिलता—लड़के लड़कियाँ, स्त्रियाँ न जाने कौन कौन नई बहू को घेरे जो रहती हैं। बच्चा दरवाज़े की ओर से झाँककर देखता—और चुपचाप ललचाई आँखों से देखता रहता है।—फिर उसे लगता घूँघट के अन्दर से दो आँखें सब उलझनों में उसी की ओर देख रही हैं।... बालक संकुचित हो भागकर एक कोने में छिप जाता, और न जाने क्यों फफक फफक कर रोने लगता। बालक समझ नहीं पाता है; पर युवक इस रहस्य को अब समझ रहा है। बालक समझ तो नहीं पाता—परंतु उसके मन में जो खोयापन है, वही उसको रुलाता है। उसे लगता है—नई बहू में जैसे उसकी खोई वस्तु छिपी हो—पर जब वहाँ भी उसे निराश होना पड़ता—वह अभाव से अपने को चारों ओर से घिरता पाकर रो उठता है।'

'एकान्त में बालक रोता रहा—रोता रहा। उसके मन में जैसे कोई

चीज़ उमड़ उमड़ आती है—और वही अज्ञात उसे रुलाता है। एकाएक उसे लगता है जैसे उसके सिर पर कोई कोमल छाया हो—उसे लगता है जैसे यह तो वही है जिसे वह खोज रहा है—हाँ वही तो। वह उमड़ते आँसुओं—टूटती हिचकियों में, मुँह ऊपर उठाते उठाते कह उठता है—"माँ"। लेकिन आँसू भरी आँखों से उसने देखा उसके ऊपर घूँघट में दो आँखें झुकी हैं। बालक संकोचशील हो उठता है। उसी समय एक मधुर स्वर कह उठता है—"मनहर तुम रोते हो।" इन शब्दों के साथ बालक की लज्जा घुल गई—वह खुलकर रो उठा...। नई बहू उसे अपनी ओर खींचकर गोद में कर लेती है और उसके सिर के बालों को अंगुलियों से सुलझाने लगती है। फिर उसके मुख को ऊपर उठाकर चूम लेती है और कहती है—"मैं रही तुम्हारी माँ! मनहर! अच्छे लड़के कहीं रोते हैं।" बच्चा बहू की गोद में लेटा हिचकी ले रहा है। परन्तु उसे लगता है जैसे उसने कुछ पा लिया। वह समझ नहीं पाता। लेकिन युवक समझता है। उसका बोझ उतर गया है; उसको अपने ऊपर फिर वही छाया लग रही है। उसे जैसे अनुभव होता है—कुछ कोमल कोमल उसे घेरकर सप्राण कर रहा है।......इस मांसल कोमल बंधन में बालक का मन हलका हो चुका है।'

'बालक अब स्वस्थ लगता है—वह बात बात में रो नहीं उठता—किसी के कुछ कह देने से उसे रुलाई भी नहीं आती। खेल में वह किसी से पीछे नहीं रहता। कभी कभी उसे 'माँ' की याद आती है जो चली गई है पर लौटी नहीं। वह बहू माँ की गोद में लेटकर पूछ लेता है—"बहू माँ! माँ अभी लौटी नहीं।" बहू माँ उसके गालों को थपथपाती हुई अपने घूँघट को एक हाथ की अंगुलियों से उठा कर कहती है—"पागल मैं तो हूँ तेरी माँ। मनहर! मैं क्या तेरी माँ नहीं लगती।" बालक कुछ समझ नहीं पाता है। बहू माँ की काली-घनी बरौनियों से छाई आँखों में आँसू के बूँद झटक रहे हैं। वह जानता है—बहू माँ

'माँ' नहीं है। पर युवक समझता है। 'माँ' नहीं है ऐसा वह बिलकुल स्वीकार भी नहीं कर पाता है। पहले जो 'माँ' थी जिसे वह 'माँ' कहता था—उसके हाथ उसके ऊपर छाए रहते थे, उसकी आँखें उसे खोजती रहती थीं—उसकी गोद उसे चिपटाने को आकुल रहती थी; सब मिलकर उस पर जैसे एक घनी छाया छाई रहती थी। और अब भी तो—जैसे बहू माँ की आँखें घूँघट से उस पर छाई रहती हैं...और एक अधिक कोमल स्निग्ध छाया से वह घिरा रहता है। फिर वह बहू माँ से कैसे अस्वीकार कर देता—वह माँ है। वह आँचल में अपना मुँह छिपा लेता है।

ट्रेन अपने आप आगे बढ़ती जाती थी। युवक उसके रुकने और चलने को निरपेक्ष भाव से भूल चुका था। उसके सामने पिछली स्मृति के कल्पना चित्र आ रहे थे, और नींद का बोझा उस पर छाया हुआ था।

* *

'लड़का पुस्तकों को मेज़ पर डालता हुआ आग्रह और उत्सुकता से पूछता है—"दूलन' बहू माँ आ गई।" उसने पूछा, जैसे 'हाँ' के अतिरिक्त 'ना' की अपेक्षा वह नहीं करता। लेकिन दूलन किताबों को सँभालते हुए कह देता है—"कहाँ भइया जी! २ बजे की गाड़ी से तो आई नहीं।" लड़के की उत्सुकतापूर्ण व्यग्र-निराशा प्रश्न जैसे बन जाती है—"क्यों? आई नहीं।" दूलन उत्तर दे नहीं सका, वह उत्तर चाहता भी नहीं है। वह कुरसी पर ज़ोर देकर बैठ जाता है—उसके मन में बार बार उठता है—आख़िर आई क्यों नहीं। चार दिन को गई थीं... बीस दिन लगा दिये...कल ही तो पत्र आया था—आज २ बजे की गाड़ी से आने को लिखा था—फिर आई क्यों नहीं। आना नहीं तो पत्र क्यों भेजा—वह प्रतीक्षा ही क्यों करता? लड़का अज्ञात रूप से जैसे अपने आप से कुछ छिपा रहा है। लेकिन युवक उस अज्ञात को समझता है। वह तो रोज़ ही प्रतीक्षा करता रहा है, और

जानता है आज वह स्कूल में कितना पढ़ लिख सका है। ऊपर से वह बहू माँ से क्रोध करना चाहता है—आखिर लिखने को ही क्यों लिख दिया, वह नहीं करता प्रतीक्षा—क्यों करे। लेकिन युवक उसके मन की विकलता को समझ रहा है—वह बहू माँ की उपेक्षा करना चाहता है—मन में विद्रोह लाना चाहता है—पर उसका मन अन्दर से भरता आता है, उमड़ता आता है और जैसे वह रो देगा—वह रोना चाहता है। उसी समय दूलन हाथ में दूध लिए हुए आकर कहता है—"भइया जी! कपड़े तो बदलो—उठो।" वह जैसे उमड़ पड़ा—"नहीं बदलना है कपड़े अपड़े—ले जा अपना दूध—मुझे नहीं पीना है तेरा दूध।" दूलन चुपचाप मौन खड़ा है। युवक जानता है कि दूलन लड़के की मन की बात से एकदम अपरिचित नहीं है। लड़का एकाएक खड़ा होकर कह उठता है—"नहीं मुझे कुछ करना है—लेजा अपना दूध-ऊध।" और वह एक ओर चल देता है।'

ट्रेन अपनी गति में मौन-मुग्ध खट-खट करती सरकती जाती थी। युवक नींद का बोझा लिए अपने आप में खोया हुआ था।

'लड़का एक ओर चलता जाता है—चलता जाता है। किसी ओर जाने जैसी इच्छा उसमें नहीं है। युवक उसकी इच्छा को पकड़ पा रहा है—उसके मन पर जो अस्थिरता छाई है—उसी को निकालने के लिए—मन की विह्वलता को गति के साथ मिलाकर चलता जाता है। सामने उसे लगता है—आकाश पृथ्वी झुककर मिल गए हैं उसी ओर वह बढ़ता जाता है—बढ़ता जाता है। उसे वस्तु-स्थिति का ज्ञान नहीं है—किसी भाव से भरा चलने में ही सारा मन लगाए चला जा रहा है। फिर उसे एकाएक ऐसा लगा—ठंडी ठंडी हवा उसके गरम शरीर को स्पर्श कर रही है। वह देखता है वह नहर के पास पास चल रहा है—अब अँधेरा हो चुका है वह लौट पड़ा—लेकिन उसका सिर भारी है—शरीर में जलन सी हो रही है।'

ट्रेन अपनी गति के प्रवाह में जैसे रुकी हुई थी। युवक पर नींद

की एक लहर आकर निकल गई—पर वह सो नहीं रहा था।

'दिवाल घड़ी ने टन-टन नौ बजाए। लड़का अपने कमरे में लेटा हुआ सुन रहा है। उसे लग रहा है उसका शरीर तप रहा है और सिर में तेज़ दर्द है। फिर वह कह उठा—"दूलन गाड़ी कै बजे आती है।" युवक जानता है दूलन समझदार है, वह अपने भइया जी के मन की बात जानता है। उसने पास से ही तत्परता से उत्तर दिया—"दस के आस-पास ही तो भइया जी। लेकिन कार पर सब लोग सनीमा गए हैं।" लड़के को लग रहा है उसका सारा शरीर दर्द कर रहा है। लेकिन वह अपने आप से ही पूछता है—९ बज गए। फिर एक घंटा ही तो और है। लेकिन कार तो स्टेशन गई नहीं, और भेजी भी क्यों जाय, जब आना ही नहीं। हो सकता है गाड़ी छूट गई हो—फिर कार—लेकिन स्टेशन पर ताँगे तो मिलते ही हैं। इससे क्या? वह क्यों सोचे—उसका सिर अधिक दर्द कर रहा है। युवक समझ रहा है—लड़के का मन प्रतीक्षा में उत्सुक हो रहा है—जैसे अपने कष्टों के दूर होने की प्रतीक्षा में हो। दस बजते ही उसका सिर दर्द ठीक हो जायगा—उसका ज्वर शांत हो जायगा। धीरे से वह कराह उठता है और वह प्रतीक्षा कर रहा है। प्रतीक्षा में वह बहा जा रहा है—लगता है उसके शरीर पर ठंढा पानी पड़ रहा हो—उसके सिर पर बर्फ का थैला रखा हुआ है।'

'समय बढ़ता गया...बढ़ता गया—लेकिन अंत में थक गया और घड़ी में टन-टन दस बजते हैं। लड़का अब अधिक सचेष्ट और जागरूक है। वह सोच रहा है—ट्रेन स्टेशन पर आ गई है—बहू माँ उतरती हैं—स्टेशन पर किसी को न पाकर उनकी भौंहें गहरी हो जाती हैं। और युवक जानता है जैसे वह उनसे कहना चाहता है—"फिर तुम पहिले आई क्यों नहीं थीं।" उसी समय दूर पर ताँगा की टप-टप सुनाई देती है। मन विह्वल होकर कह उठता है—तो क्या आ गईं।—लेकिन अभी तो ट्रेन स्टेशन पर आई है—स्टेशन शहर से दो मील है। ताँगा टप-टप

करता आगे बढ़ जाता है। बहू माँ खुद कुली करेगीं—और बाहर निकलकर जब कार भी नहीं मिलती है—तो झल्ला उठती हैं।...कार सिनेमा गई है—फ़िल्म अच्छा है। तब बहू माँ ताँगा करेगीं—उनके साथ उनके घर का नौकर है ही। वह जल्दी ही सब सोच जाता है—उसी समय किसी कार का हार्न सुनाई पड़ता है...वह सोचता है—शायद सिनेमा से मोटर उन्हें लेने गई हो। पर मोटर एक क्षण में ही सर से निकल जाती है। फिर जैसे उसकी प्रतीक्षा के क्षण भारी होते जाते हैं—भारी होते जाते हैं। वह सोचता है—नहीं भी आ सकती हैं—शायद न आईं हों। उसी समय ताँगा की टप-टप दूर पर सुनाई दे जाती है—वह उत्सुकता से टप-टप सुन रहा है—ध्वनि स्पष्ट होती जाती है—होती जाती है। फिर लगा जैसे ताँगा धीमा हो रहा है—रुक रहा है—कोठी के फाटक पर मुड़ रहा है। पर ताँगा तो अब भी चलता ही चला जा रहा है—आगे बढ़ता जा रहा है—उसका शब्द धीमा होता जा रहा है। वह मन ही में कह लेता है—बहू माँ न आएँ न सही। पर उसे लगता है उसका ज्वर तेज़ होता जा रहा है। और उसका मन अब भी घोड़े की टाप सुनने के लिए आकुल है, उसके दिमाग़ में अब भी घोड़े की मिटती हुई टप-टप सुनाई दे रही है।'

'घड़ी में साढ़े दस का घंटा 'टन' होकर चुप हो जाता है। सड़क बिलकुल सुनसान है—कोई आवाज़ नहीं आ रही है। उसका मन डूबा डूबा जा रहा है।—एकाएक दूर पर एक एक्का खड़खड़ा उठा। स्पन्दन तीव्र हो जाता है—बहू माँ इक्का पर नहीं आयेंगी—लेकिन शायद—खड़खड़ाहट तेज़ होती जा रही है—तेज़ होती जा रही है—उसे लगता है जैसे साँस लेने में कुछ बोझा लग रहा है—साँस रुक सी रही है। मन उछल सा रहा है। एक्का पास सड़क पर ही खड़खड़ा उठा—और खड़खड़ाता ही आगे बढ़ता जाता है—बढ़ता जाता है—।'

'लड़के ने करवट बदली—उसे लग रहा है—उसका दर्द बढ़ता

जा रहा है—शरीर का ताप मन को भी घेरता आ रहा है। फिर जैसे उमड़ते हुए मन का आवेग-आँखों में मार्ग ढूँढ़ रहा है। वह रो पड़ता है—आँसू बह निकले—उसकी धीमी हिचकियाँ कराह से मिली हुई हैं और वह रो रहा है। वह समझता है—वह कष्ट के कारण रो रहा है। युवक जानता है—लड़का अभिमानी है और अपनी निराशा के आँसुओं को स्वीकार नहीं करना चाहता। रोते रोते उसे नींद आ रही है। रोने से—मन का उमड़ता हुआ आवेग कम हुआ, मन का बोझा हलका हुआ है—और शरीर का ताप भी जैसे कुछ कम हो गया है। वह अब सो रहा है।'

'एकाएक उसकी नींद टूट जाती है—उसे लगता है—पोर्टिको में ताँगा रुक गया है—फिर लगा बहू माँ ने पुकारा—"दूलन, सामान उतराओ।" फिर जैसे कमरे के धुँधले प्रकाश में कोई प्रवेश कर रहा हो—उसने अपनी आँखें बंद करली हैं। फिर बहू माँ कह रही हैं—"वाह इस घर की बात ही निराली है—वैसे सब १२ बजे तक जागेंगे—लेकिन आज ११ बजे ही सन्नाटा है।" बहू माँ जैसे अपने शरीर पर से कोई वस्त्र उतारते हुए पुकार उठती है—"अरे दूलन।" बाहर से ही दूलन का उत्तर आया—"आया, बहू जी।" उसे लगता है बहू माँ उस पर ही झुक गई—वह सोचता है—बहू माँ से वह नहीं बोलेगा—नहीं बोलेगा। उसकी आँखे बन्द ही हैं। लेकिन युवक समझ जाता है—उसे लग रहा है जैसे कोई शीतल-कोमल स्पर्श उसके तपते शरीर को छू गया हो—और उसके मन का आग्रह भी किसी अन्दर से आनेवाली उमड़न में डूबा जा रहा है। लड़के ने अनुभव किया बहू माँ का शीतल हाथ उसके मस्तक पर है—और उसी समय बहू माँ के मुख से निकल जाता है—"अरे इसे तो तेज़ बुख़ार है।" उनका स्वर जैसे व्यग्र है—"अरे दूलन! इसे बुख़ार कब से है।" दूलन सामान सँभाल कर आ चुका है, वह दबे स्वर में कहता है—"शाम को स्कूल से आते ही आप को पूछ रहे थे, और

उसी के बाद से कुछ खाया-पिया नहीं।" "और फिर तुम्हें किसी बात से मतलब नहीं। उसने नहीं कर दी और तुम्हें छुट्टी मिली।" बहू माँ का स्वर जैसे विकल हो। लड़का चुपचाप सुन लेता है—वह मौन है और अपने मन में दुहरा लेना चाहता है—आखिर बहू माँ आई क्यों नहीं थीं। पर युवक उसके मन की बात जानता है—वह अर्द्धचेतन स्थिति में शीतलता का अनुभव कर रहा है—लगता है उसका सारा दर्द—उसका सारा कष्ट उसी शीतलता से ढका जा रहा है। पर उसका मन एक बार फिर उमड़ा आ रहा है।

दूलन अब तक मौन ही है।

बहू माँ उसके सिर पर हाथ फेरती हुई फिर पूछती हैं—"और तुम्हारे साहब क्या अपने कमरे में सो गये?"

"नहीं। साहब तो दौरे पर गए हैं। और सोया तो अभी कोई नहीं बहू जी।"

"यहाँ तो सब बात ही उलटी होती है—कहा था—मेरे लौटने तक दौरा पर न जाइएगा—। फिर और सब कहाँ हैं?"

"सनीमा"।

"सिनेमा! इसे छोड़ कर! अच्छा! अच्छा जाओ। मेरे साथ के आदमी के खाने का बन्दोबस्त कर दो। मैं—मैं मुझे खाना नहीं है।—ऐसे ही, भूख नहीं है।"

लड़का चुपचाप बातें सुन रहा है—केवल उसे सुनाई दे रहा है—वह तो यही सोच रहा है—वह बहू माँ से नहीं बोलेगा। युवक जानता है उसका मान ठहर नहीं रहा है। उसके सिर पर रखे हुए हाथ की कोमलता उसके तन मन पर फैलती जा रही है—फैलती जा रही है। लड़का अपने मन की उमड़न का अनुभव कर रहा है। उसी समय बहू माँ धीरे धीरे पुकार लेती हैं—मनहर! मनहर!" उसका मन जैसे झनझना उठा; उसने धीरे धीरे आँखें खोल दीं। देखा—बहू माँ की परिचित आँखें उस पर झुकी हुई हैं। इस स्थिति में वह कुछ समझ

नहीं पाता है। युवक समझ रहा है—उसे न जाने कैसा आकर्षण घेर लेता है—ना जाने कौन अमृत प्राणों को सींच देता है। उसके मन का मान उमड़ कर जैसे बाहर निकलना चाहता हो। फिर बहू माँ का मुख उसके ऊपर आ गया है। उनकी आँखों का स्नेह उसके मन को उमड़न को प्रेरित कर रहा है। उसकी आँखों में मन की उमड़न बरस पड़ी है—वह रो रहा है—पीड़ा से नहीं—किसी अज्ञात सुख से।

"छी! कोई इतना बड़ा होकर रोता है।" आँसू पोछते हुए बहू माँ कह रही हैं। फिर उसका सिर अपनी गोद में रख लेती हैं—"और कोई माँ से रूठता है, मनहर।" लड़का भावविह्वल हो उठता है—वह धीमी हिचकियाँ सी ले रहा है। युवक अब भी उसके मन को समझ रहा है। जिस रिक्त को वह भर नहीं पा रहा था, जिस उदासी को वह हटा नहीं पा रहा था, जिस विकलता को वह समझ नहीं पा रहा था—वह रिक्त भरता जा रहा है, वह उदासी विलीन होती जा रही है और विवशता अदृश्य हो रही है। उसने देखा—बहू माँ की आँखें उस पर छाई हैं—उनमें आँसू हैं।'

* *

ट्रेन ने दो बार रुक रुक कर सीटी दी, फिर लंबी सीटी देती हुई आगे बढ़ रही थी। ट्रेन प्वाइंटों पर खट-खट करती किसी बड़े स्टेशन में प्रवेश कर रही थी। युवक को कुछ धक्का सा लगा...वह सजग हो गया। उसने बाहर दृष्टि डालकर देखा फ़ैज़ाबाद का स्टेशन आ गया था। ट्रेन पहुँचने का समय, इस स्टेशन पर, १२ बजे था। युवक अनुभव कर रहा था कि वह थक गया है। उसने दूसरी खिड़की भी चढ़ाली। वह सोना चाहता था, पर उसका मन भारी था...उस पर स्मृतियाँ और कल्पनाएँ धुँधले छायातम में उतरती चली आ रही थीं। वह इनको मिटाकर सोना चाहता था, पर वे मिट मिट कर भी नहीं मिटतीं। वे तो उसे घेरती ही जाती हैं। स्मृति की कल्पनाओं से बचने के लिए वह फिर विचार करना चाहता था।

"मैं घर की—उसके आकर्षण की बात सोच रहा था.. फ्लैट की स्त्री बच्चा गोद में लिए खड़ी है...अपने घर की सीमा में वह जैसे बहू माँ के रूप में बदल उठती है...। हाँ ! तो यह सीमा जीवन को किसी सम्मोहक शक्ति द्वारा खींचती रहती है। व्यक्ति अपनी सारी गति में, यात्रा में...इसी केन्द्र के चारों ओर घूमता है।'

ट्रेन फिर चलती है...वह शहर के बीच से होकर गुज़र रही थी। खिड़की के शीशे से दिखाई दिया—शहर में अँधेरा है केवल एक आध टिमटिमाते दीपक पीछे छूट रह थे। युवक को लगा उसको कल्पनाएँ घेरती ही जाती हैं और विचार करने की शक्ति किसी तन्द्रा में डूबती जाती है।

'हाँ—तो फिर गति में, यात्रा में एक अपना भी आकर्षण है—यह तो अस्वीकार नहीं किया जाता, जिसके प्रति मन आकुल हो उटता है...।'

सट-सट करती रेल के साथ...युवक को लग रहा था उसके मन पर अतीत स्मृतियों की कल्पनाएँ छाती जा रही थीं—जैसे चारों ओर से छाती जा रही हों। और नींद का भारीपन भी बढ़ता जाता था। लेकिन उसे नींद नहीं आ रही थी।

* *

'किशोर एक सेकेण्ड क्लास के कम्पार्टमेंट में बैठ चुका है—समान भी रखा जा चुका है। गाड़ी छूटने में अब अधिक देर नहीं है। किशोर देखता है—महिला के मुख पर मुसकान है और आँखों में स्नेह। इसके आगे वह स्वयं किसी अज्ञात चिन्ता में उदास है। लेकिन युवक जानता है महिला कुछ अस्थिर है और अनमनी भी। वह किशोर का हाथ पकड़े कह रही है—"मनहर, देखो घबराना नहीं। सभी लड़के बड़े होकर बाहर पढ़ने जाते हैं। और यूनीवर्सिटी में छुट्टी ही छुट्टी रहती है—। चार दिन बाद ही तो दशहरा और दीवाली की डेढ़ महीने की छुट्टी हो जायगी। और देखो पढ़ने में जी लगाना—बहू माँ को याद

कर कर के समय न नष्ट करना।" बहू माँ की आँखें आर्द्र हो उठीं।
न याद करने की बात लेकर ही वह उद्विग्न हो उठी हैं। किशोर मूक-मौन बैठा है। उसके मन का जो आवेग है—उसे वह कह नहीं पा रहा है—और जैसे समझ भी नहीं पा रहा है। युवक जान लेता है—उसे पढ़ाई का शौक है और उसको यात्रा का आकर्षण भी है—पर जो सामने अपनी सीमाएँ लिए खड़ी है उसका सम्मोह उसके प्राणों पर छाया हुआ है। वह विकल है—पर विवश मौन है।...सोच लेता है चार दिन में ही तो दशहरा और दीवाली की डेढ़ मास की छुट्टी हो जायगी। इंजन ने सीटी दी—ट्रेन गतिशील हो उठी।

बहू माँ कह रही हैं—"देखो लापरवाही मत करना—पत्र भेजते रहना—अपना समाचार लिखते रहना—कोई बात हो तो फ़ौरन ख़बर देना।" ट्रेन धीरे धीरे आगे बढ़ रही है—और बहू माँ प्लेटफ़ार्म पर छूट रही हैं। वह हाथ जोड़कर एक टक—मौन विकल उसी ओर देख रहा है। बहू माँ की आँखों में जैसे आँसू झलक रहे हों और वे तन्मय खड़ी हैं, ट्रेन धीरे धीरे तेज़ हो रही है—और बहू माँ विलीन होती जाती है। बहू माँ के आँसुओं के साथ किशोर भी रो पड़ना चाहता है—पर कम्पार्टमेंट में अन्य भी व्यक्ति हैं। ट्रेन सर-सर करती भाग रही है—पेड़ झींमते झूमते दौड़ते-नाचते पीछे भागे जा रहे हैं। किशोर के सामने—बहू माँ अब भी प्लेटफार्म पर अपनी आँखों में आँसू भरे खड़ी है। नाचती धरती पीछे खिसकती जाती है...और चार दिन बाद दशहरा-दीवाली की छुट्टी...।'

* *

युवक अपनी कल्पना में चक्कर लगा रहा था। उसकी संज्ञा-ट्रेन की गति के साथ सम हो चुकी थी...और इसलिए उसके प्रति वह निरपेक्ष था। ट्रेन अपने आप रुकती बढ़ती चल रही थी। युवक की कल्पना के चित्र भी गहरे हो उठते और कभी हलके ..इसी प्रकार वह अर्द्ध-निद्रित अवस्था में चल रहा था।

'आज से ६ वर्ष पहले—युवक उस समय किशोर ही था। वह इंटर की परीक्षा देकर लौट रहा है। वह 'घर के रास्ते' में है। उसका मन उद्विग्न और चिंतित है। वह जेब से निकालकर एक तार खोलता है—जैसे वह कुछ समझ लेना चाहता हो।—Finishing Exam come at once Bahu Seriously ill वह कई बार पढ़ जाता है—फिर मोड़कर जेब में रख लेता है। पंजाब-मेल अबाध गति से दौड़ रही है। पर उसे लगता है—ट्रेन धीरे चल रही है—ट्रेन रुकी सी क्यों है। उसका मन ट्रेन की खट-खट से भर उठता है—उसे लगता है ट्रेन जैसे उसके मन में ही चल रही हो। वह सोचता है—ट्रेन आज धीरे चल रही है—वह लेट हो रही है। मेल कई घंटे की दौड़ के बाद परतापगढ़ स्टेशन पर रुकती है। उसे लग रहा है—मेल आज लेट है—कितने धीरे चल रही है—लेट होती ही जा रही है। मुसाफिर व्यर्थ ही चढ़ते हैं—इस मेल पर चढ़ना न चढ़ना बराबर है—फिर मेल होकर रुकती कितना है। वह गिनता है—रायबरेली—लखनऊ और फिर कहीं—वह सोचता है...बहुत दूर चलना है...आखीर इतना चलना क्यों है।

'ट्रेन स्टेशन पर रुक जाती है—किशोर झाँककर किसी को ढूँढ रहा है। फिर अपनी उत्सुक निगाह को बटोरकर सोच लेता है—बहू माँ तो बहुत बीमार हैं। किशोर नहीं जानता वह किसको ढूँढ रहा था। युवक जानता है—वह जैसे अपनी किसी सीमा को पाना चाहता हो—और अज्ञात-भाव से उसी को वह देख रहा है।

इतने में शोफर उसे सचेत करता है—"भइया जी।" शोफर के मुख पर विचित्र उदासी की छाया थी—जिसे देख कर किशोर जैसे चौंका—उसके मन में जैसे कुछ अँधेरा सा, सन्देह सा धुँधला धुँधला छाता जा रहा हो। पर वह कुछ पूछ नहीं सका।'

'मोटर रुक जाती है। किशोर ने देखा पोर्टिको में कोई नहीं है। अज्ञात भाव से जैसे वह किसी के वहाँ होने की आशा कर रहा था। वह एकदम सीधे अपने कमरे में चला जाता है। सब सूना-सूना। वह

देखता है—घर के सभी व्यक्ति मूक-मौन। घर में अज्ञात भयानक उदासी छाई है। वह व्याकुल हो उठता है। उसका मन जैसे उमड़ना चाहता हो; उसका हृदय चिल्लाना चाहता हो और वह चीख कर पूछना चाहता है—'बहू माँ'। वह धीरे धीरे मझले भइया के कमरे में जाता है—मझले भइया एक तख़्त पर बैठे हैं—उदासी जैसे सिमटकर भयानक हो उठी हो—मझले भइया पर जैसे प्रेत की छाया पड़ रही हो। और वह अपने को अधिक सँभाल नहीं सका...उसके मन की उमड़न चारों ओर से बह चली—वह एकदम रो पड़ा। वह रो रहा है और मझले भइया कह रहे हैं—"मनहर। तुम्हारी बहू माँ अब नहीं हैं।" किशोर बरबस रो रहा है। और युवक देख रहा है—जैसे उसके उमड़ते हृदय में...उमड़ते आँसुओं में घर की सीमाएँ विलीन हो रही हों...और घर अपने सम्मोहन को समेट रहा हो।

❀ ❀

झटके के साथ ट्रेन रुक गई...उसी के साथ युवक की अर्द्धनिद्रा भी भंग हो गई। उसने देखा—शीशों से प्रकाश आ रहा था। खिड़की खोलकर उसने झाँका—ट्रेन बनारस स्टेशन से कुछ दूर लाइन क्लियर की प्रतीक्षा में थी। उसने मुड़कर अपने सामान पर दृष्टि डाली। और वह कल्पना की गहरी ख़ुमारी को झाड़ते हुए विचारों को समेट रहा था।

'सच ही तो...। सामने अपने में डूबे हुए व्यक्ति और फ़्लैटवाली स्त्री के घर की सीमा बनकर मिट गई। हाँ सच ही तो...। सामने चढ़ने के लिए उत्सुक यात्री हैं...यात्रा और गति तो केवल रास्ता है—'घर का रास्ता'; केन्द्र तो घर ही है, सम्मोहन तो घर ही है...फिर रास्ता का आकर्षण भी उसी को लेकर ही है। पर वह सोचता है—उसका 'घर का रास्ता'।

❀ ❀

ट्रेन बनारस के स्टेशन पर रुक गई। सेकेंड क्लास कम्पार्टमेंट में

एक स्त्री पुरुष, स्त्री के गोद में बच्चा है, चढ़ने का प्रयास कर रहे थे। अन्दर से कुली कह उठता है—"थोड़ा रुका जाय साहब अभी पूरा कम्पार्ट खाली हो जाता है।" परंतु स्त्री ऊपर आ चुकी थी। वह इस कम्पार्टमेंट के अकेले यात्री को देखकर चकित होकर कह उठी—"हल्लो मनहर! बहुत दिनों पर दिखाइ पड़े। आज तो M.A. पास करने के दो बरस बाद ही तुम्हें देखा। कहो क्या घर से...।" मनहर ने अपनी थकावट को झाड़ते हुए हाथ जोड़ दिए—"विमला जी आप।" उसने देखा उसको गोद में एक वर्ष का बच्चा है।—"मैं! हाँ घर के रास्ते ही से तो।" उसके मुख पर किसी गहरे भाव की मुसकान थी और वह ट्रेन से उतर चुका था।

मौत का ख़्वाब

(स्था०—सीकर : शेखावाटी) (काल—मई जून ४६ ई०)

रेत का बालुकामय विस्तार—फैलने की रुकी हुई भावना...

शेखावाटी[1] के समतल प्रसार में किसी ओर से बाँध रखने की भावना नहीं है—लगता है उसकी सीमा एकरूपता में कहीं खो सी गई है। इस प्रदेश के निस्सीम प्रसार में दिशा और काल जैसी स्थिर गतिशीलता है। चला जा रहा है—चला जा रहा है! जैसे ठिठक गया हो, और बस रुका हुआ है! रुका हुआ है!! यही एक भाव वातावरण बनकर फैला हुआ है। बेचारे मनुष्य के लिए, यही असीम फैलाव झुक-झुक कर सीमाएँ बन जाता है, और अनवरत प्रवहमान् काल श्वासों की उलझन में उलझ उलझ जाता है। बालू के रिल्ल[2] श्रेणियाँ बना कर दिशा को सीमा में घेरने का प्रयास करते हैं...परंतु व्यर्थ निरुपाय,...बालू की रेखाओं से विश्वास की सीमाएँ नहीं बनतीं।

---

[1]जैपुर राज्य के उत्तर का एक भाग जो पंजाब की से मिला हुआ है।

[2]बालू के ऊँचे पहाड़ों के रूप में फैले हुए टीले। इस शब्द में पहाड़ों या 'टीले' शब्दों की भाँति ठोस होने का भाव नहीं है।

और काल के प्रति निरपेक्ष—उदासीन इधर-उधर फैले हुए खेजड़ा[1] के पेड़ों को—हूँ हूँ करती ग्रीष्म की लू की न चिंता है—पतझड़ के मर्मर विषाद का न कोई अवसाद है और न वसंत के नवयौवन की स्मृति का उल्लास ही। रही बरसात के अकिंचन दान से फैल उठनेवाली हलकी हरियाली की बात......वह इस विराट में सागर की तरंग से अधिक कुछ नहीं जिसमें बनने से अधिक मिटने की ही भावना है। परंतु कभी इस असीम के प्रति सीमा का विद्रोह भी कठोर हो उठता है—और यह विद्रोह कड़ी चट्टानों की पहाड़ी श्रेणियों में रूप भर-भर कर सामने आने लगता है।

घेरा डाले हुए वालू के टिल्लों से निकल कर ऐसी ही एक पहाड़ी चली गई है...मानों आकार पाने की कल्पना चली जा रही हो—चली जा रही हो फिर चिढ़ कर कठोर हो गई हो। इस पहाड़ी पर पुराने क़िले की प्राचीर अपने अवशेष चिह्नों की शृंखला में अंतिम छोर पर अधिक ऊँची हो गई है। क़िले के इस भाग के ठीक नीचे—ढाल के समतल पर एक महल...किसी अज्ञात की प्रतीक्षा में—निराश खड़ा है। उसके भग्नावशेष जर्जर रूप में बीते युग के ऐश्वर्य का सौन्दर्य नहीं—केवल एक भूली स्मृति शेष है। उसका विशाल और दुर्भेद्य फाटक अचल और अडिग है—परंतु उसकी दुर्भेद्यता में किसी के प्रति अवरोध नहीं—और न उसकी विशालता में किसी के प्रति विद्रोह की भावना ही शेष है। उसकी निराश भावना की अचल उदासीनता में किसी पिछली स्मृति के स्वप्न से जागने जैसी खुमारी है। अगले वसंत के स्वप्नों से वंचित कोई सूखे पत्तोंवाला वृक्ष किसी पिछले वसंत के ख़्वाब में खोया हुआ हो...ऐसा ही महल ठिठका खड़ा है। क़िले से उतरनेवाला एक रास्ता वालू की श्रेणी की

---

[1]इस प्रदेश का वृक्ष जो प्रत्येक ऋतु में लगभग हरा रहता है। इसकी पत्तियां ऊँट के खाने के काम आती हैं।

और घूमा हुआ दिखाई पड़ता है। बालू की श्रेणी सामने घेरा डालती हुई सम हो गई है। उसी ओर बस्ती के कुछ चिह्न भी दिखाई पड़ते हैं —जैसे कल्पना और सत्य के बीच में जीवन सजग हो उठा हो।

❀ ❀

फाटक के अन्दर—दाहिने प्रकोष्ठ में—कोई व्यक्ति हाथों पर सिर टेके स्थिर था—स्थिर! हाँ ऐसा ही, बैठने जैसी सप्राणता उसमें दिखाई नहीं देती···जैसे अपनी कल्पना के जर्जर अवशेष-द्वार पर मानव की जर्जर कल्पना मूर्तिमान हो उठी हो। हाथ-पैर और मुख पर पड़ी हुई झुर्रियाँ···उसी प्रकार कपड़ों की लटकती हुई धज्जियाँ—इनमें पता नहीं कौन किससे अधिक हारी थीं—कौन किससे अधिक थकी थीं। उसकी शेखावती पगड़ी की मुर्रियों से धज्जियाँ उलझे हुए पांडु केशों के साथ लटक रही थीं। उसके हाथों पर दाढ़ी-मूछों की विचित्र उलझन झुक गई थी—जिसमें, अपने निर्माण को बिखेर कर छोड़नेवाले पक्षी के उजाड़ नीड़ की उदासी छाई हुई थी। दुबले होने के कारण कुछ अधिक लंबा लगनेवाले उसके चेहरे पर किंचित गोलाई लेकर झुकी हुई नाक ही अधिक महत्वपूर्ण हो उठी थी।

और वह बैठा था—अपनी लंबी अँगुलियों पर सिर टेके—निश्चल—स्पन्दनहीन! जैसे पतझड़ का स्वप्न ही चेतना की कल्पना में जड़ता बनकर फैल गया हो। दूर बस्ती के मंदिर के घंटे की घनकार आकाश में तरंगित होकर धुँधले प्रकाश में बैठे हुए बूढ़े व्यक्ति के कानों तक पहुँच गई—और उसकी जड़ चेतना से टकरा कर अपनी प्रतिध्वनि में खो गई। उसने थोड़ा सा सिर ऊपर उठाया और उसके हाथ गोद में गिर गए। इस क्रिया में गति का एक रूप मात्र था—जिसमें उत्सुकता की सजगता खो गई हो और ध्यान देने की इच्छा मिट चुकी हो। फिर आँखें भी अधखुली हो गईं—पर जैसे खुलने की इच्छा से नहीं। उन बरौनीहीन भारी पलकों में अपांग का भाव डूब कर बस खुलने जैसा भाव रह गया था और उस खुलने में फटने की

व्यंजना ही अधिक थी। उन आँखों की मैली सफ़ेदी की गहरी स्थिरता और जड़ता में...जैसे पानी के गहरे विस्तार में कोई भारी चीज़ डूब कर खो गई हो—और एक ऊँची तरंग के प्रसार में···वह खो जाने का भाव भी मिट गया हो।

सामने...सीमांत पर आकाश के हलके बादलों में लाल आभा—और बालू के रिल्लों पर चमक की रेखा—एक दूसरे के समानान्तर प्रतिबिंबित चली गई थी...मानव की कल्पना और देवताओं का स्वर्ग एक दूसरे के सामने फैल गया हो। महल की गहरी होती छाया में वृद्ध ने धीरे से कहा—'ज़िन्दगी।' धीरे से कहा हुआ यह शब्द चुपके से तरंगित होता हुआ वातावरण में मिलकर फैल गया। वृद्ध की पलकें जुड़ गईं थीं।

* *

किले में जिस ओर से नीचे को रास्ता आता है, उस ओर के फाटक पर दो सवार अगल-बगल खड़े हैं। दोनों ही सवार युवक हैं। एक लंबे बदन का अधिक सुन्दर युवक है—उसके गोरे मुख पर दाढ़ी और मूछों की हलकी श्याम आभा है। उसकी लंबी नाक गोलाई में कुछ झुक गई है—और बड़ी बड़ी आँखों पर घनी बरौनियाँ छाई हैं···जीवन की तरंगें मानों उनमें आकर रुक जाती हों। दूसरा युवक गेहुँए रँग का—कुछ स्थूलता लिए हुए है। उसकी बड़ी मूँछें ऊपर की ओर ऐंठी हुई हैं। उसके आयत नेत्रों के सौन्दर्य में—वीरता की हलकी कठोरता भी जैसे मिल गई हो।

दूसरे युवक ने पहले को संबोधित किया—"मौला।" उसके स्वर में कठोरता थी···ग्रीष्म के पहले दिनों का गरम झोंका निकल गया।

पहले ने अपनी आँखों की बरौनियों को दूसरे पर बिछाते हुए उत्तर दिया—"राजकुमार।" उसके स्वर में लापरवाही थी—शिरीष का पुष्पित तरु झूम उठा।

राज०—"मेरा घोड़ा पहले उतरेगा।" लापरवाही ने उसे कठोर

कर दिया था...मध्याह्न में हवा का झोंका अधिक गरम और तेज़ था।

मौला की आँखें मुसकरा उठीं...शिरीष के पीले पुष्पों के साथ ही नीम के फूलों की श्वेत हँसी भी झीम उठी—"राजकुमार ! घोड़ा तो उसका ही पहले उतरेगा, जिसकी रानों में ताक़त है।"

राजकुमार की भौंहों पर बल पड़ गए...आकाश में बादल घिर आए—"मौला ! समझते हो तुम क्या कह रहे हो।"

मौला के स्वर में व्यंग की तीव्रता थी...जैसे हवा के झोंके भी तेज़ हो उठे हों—"मौला समझने की बात खूब समझता है राजकुमार !... उसकी रगों में भी शेखावती ख़ून है।"

"लेकिन...।"

परंतु राजकुमार की 'लेकिन' के पहले ही मौला का घोड़ा पहाड़ी ढाल पर टप-टप करता उतर रहा है—और राजकुमार श्वास रोककर घोड़े की लगाम खींचे खड़ा है। मौला उतर रहा है...उतर रहा है। लेकिन जब उसे पीछे किसी की आहट नहीं मिला, उसने एक मोड़ पर—रास खींचकर, मुड़कर ऊपर देखा—सामने उसकी दृष्टि राजकुमार की दृष्टि से मिल गई। आँखों के मिलते ही राजकुमार के भावों को जैसे एक झटका लगा। उसने झटके के साथ घोड़े को मोड़ लिया और तनकर भारी क़दम में लौट पड़ा—जैसे उसका अपमान अभिमान में ऐंठ गया हो। उसी समय मौला की नीचे गिरती हुई निगाह में रनिवास की खिड़की की मुसकान समा गई—जैसे सरोवर की तरंगों में चाँदनी मिल गई हो। उसने देखा ज़िन्दगी के सामने स्वप्न फैला हुआ है...उसने धीरे से कहा—'असमा'।

* *

अंधकार की छाया में महल काले रूपाकार में खड़ा था। क्षितिज में रंगीन बादलों की अन्तिम रेखाएँ धुँधले अंधकार में डूब रही थीं। इस अंधकार के प्रसार में पहाड़ी श्रेणियाँ और रेतीले टिल्ल गहरे और हलके आकार भर रहे थे। वह वृद्ध कुछ हिला और उसने

पीछे के खंभे की धोक लेली...जीवन की हलकी सजगता पर नीरव जड़ता छा गई...और धुँधले अंधकार में डूबे हुए उजड़े चमन से जैसे हलका झोंका सिहरन के समान चुपचाप निकल गया।

*　　　　*

रेतीले टिलों के उस पार मौला घोड़े पर चला जा रहा है। घोड़ा दुलकी चाल में अपने आप चला जा रहा है—जैसे वह अपने स्वामी के मनोभावों से परिचित हो। और मौला अपने उल्लास में चला जा रहा है—मार्ग और दिशा की अपेक्षा उसे नहीं है। उल्लास का ज्वार जिस ओर उमड़ पड़ेगा उसी ओर दिशा खोज लेगा—सीमा बना लेगा। उसी समय एक सवार पीछे से सरपट आया और उसने अपना घोड़ा मौला के पार्श्व में डाल दिया। मौला को भान हुआ उसने चकित जैसे भाव से उसकी ओर देखा।

सवार ने कठोर स्वर में कहा—"मौला इस बार तुम फिर हमारे रास्ते में आए हो?"

मौला ने परिस्थिति से अपरिचित आश्चर्य में पूछा—"तुम्हारा मतलब राजकुमार?"

राजकुमार की कठोरता को जैसे यह व्यंग लगा—"मतलब! रखेली के लड़के होकर तुम मुझसे मतलब पूछने की हिम्मत करते हो। लेकिन मौला,...मैं फिर तुमसे कहता हूँ—तुम मेरे रास्ते से हट जाओ—असमत..." वह अपने क्रोध को सँभाल नहीं पा रहा था।

मौला अब वस्तु-स्थिति का सूत्र पा चुका है—उसने अपने अभिमान पर लगे हुए आघात का प्रतिवाद किया—"लेकिन! मैंने तो असमा को पाने की कभी ख्वाहिश नहीं की—वह चाहे तो...।"

राजकुमार अपनी असमर्थता में उतावला हो उठा—"लेकिन यहां चाहने की बात नहीं उठती। महाराज ने उसे पाला है—और बस इसी से वे उसे जिसे दे दें...उनकी आज्ञा वह अस्वीकार नहीं कर सकेगी।"

अपने पहले आघात को सँभालते हुए मौला ने उपेक्षा से कहा—

"फिर मजबूरी है राजकुमार...।"

"लेकिन भूलना नहीं—इसका नतीजा।" राजकुमार अपना घोड़ा पूरे वेग से छोड़ चुका है।

"नतीजा।" मौला व्यंग से मुसकराया; लेकिन दूसरे ही क्षण उस की मुसकान किसी गहरी आशंका में विलीन हो गई...सरोवर की लहरें किसी ऊँची तरंग से टकराकर मिट गईं। उसके मन में ध्वनित और प्रतिध्वनित होकर कर गूँज रहा है—'हथेली के लड़के होकर...।' चारों ओर से आकर यही ध्वनि उसके मन से टकरा टकरा जाती है। उसके मन में कई चित्र आ आकर मिट रहे हैं...आँखों में वेदना और प्रार्थना लिए हुए माँ...मुख के गर्वीले भाव के साथ स्नेह और उदारता लिए हुए महाराज...विवशता और क्रोध से भरा हुआ राजकुमार—और अपनी आखों की मुसकान में सन्देह की छाया लिए हुए असमा—। उसका मन—आवेश—क्रोध और प्रतिहिंसा के भावों से भर रहा है। बिना जाने ही उसने घोड़े को कुछ दाबा और वह तेज़ चला जा रहा है। अंत में सब चित्र मिटकर एक नया चित्र सामने आ गया—

राजकुमार की स्त्री—राजकुँअरि...विश्वास और स्नेह से उसका हाथ पकड़ कर कह रही है—"ऐसा कहीं हुआ है! देवरौं—ऐसा कैसे होगा। तुम हमको छोड़कर ऐसे नहीं जा सकोगे वीरौं। भाई आपस में झगड़ते ही हैं—तुम्हारा तो हमको बड़ा भरोसा है।"

मौला के मन में''' बादल उमड़-घुमड़ कर गरज गरज कर तूफ़ानी झाकों के साथ ही मिट गए—और स्मृतियों की धुँधली नक्षत्र-मालाओं के साथ चंद्र अपनी स्निग्ध चाँदनी में मुसकरा पड़ा। घोड़ा अब भी अपने आप चला जा रहा है।

* *

पूर्व में बालू के टिल्ल के ऊपर लाल गोल आकार में चंद्रमा निकल रहा था। उसकी लाल आभा में, आकाश और टिल्ल आलोकित शृंगार में डूब रहे थे। वृद्ध ने जैसे आँखें फिर खोलीं—

परंतु उसके भाव धुँधलेपन में अदृश्य थे।...सामने—दिशा अपने स्वप्निल श्रृंगार में मग्न हो रही थी। वह धीरे धीरे बुदबुदाया—"ख्वाब"। और फिर जैसे उसने अपनी आँखें बन्द करली हों।

* *

मौला चुपचाप मौन पीछे खड़ा देख रहा है—असमा गढ़ के पश्चिम के एक झरोखे में बैठी है—वह अपनी अव्यवस्थित भाव भंगिमा में तन्मय है और उसकी आँखें सामने फैली हुई हैं।...सामने नीरस फैला हुआ बालू का प्रसार और उस पर बनी हुई स्थिर लहरें—जिन्हें किसी ने उठने के भाव के साथ ही बंदी कर लिया है...और इस चढ़ते हुए ज्वार में न तो आगे जाने की गति है और न पीछे लौटने की स्वतंत्रता। मौला इस रुके हुए भाव के साथ विकल हो उठा। फिर उसका ध्यान असमत की अव्यवस्थित स्थिति पर गया। उसने चुपचाप उसकी आँखें बंद करलीं। वह अपनी तन्मय स्थिति में चौंक कर चिहुक उठी—फिर अपने को सँभालते हुए मुसकरा कर बोली—"मेरे हुजूर मेरा इम्तिहान ले रहे हैं।"

मौला ने शिथिल होकर धीरे से अपना हाथ हटा लिया। असमा का मुसकराता हुआ मुख उसके सामने है। मौला चुप है—मौन है, जैसे वह असमा के शब्दों का मतलब समझ लेना चाहता हो—उसे लग रहा है जैसे वह असली असमा को नहीं पा रहा है।

असमा को उसकी गम्भीर मुद्रा पर आश्चर्य हुआ। उसने मुसकराते हुए ही मौला को कटाक्ष से देखा और फिर मुँह नीचे झुकाकर कहा—"मेरे हुजूर के दुश्मनों की—।"

मौला विह्वल होकर उत्तेजित हो उठा—उसने असमा के हाथों को अपने हाथों में लेकर उत्तेजित स्वर में कहा—"असमा! असमा!! तुम मेरे दिल की तड़प समझ सकोगी? एक बात मेरे मन को बेचैन कर रही है—और उसको छिपाकर मेरे लिए जीना मुश्किल है।" असमा चकित और स्तब्ध खड़ी रही।

मौला ने उसके हाथों को झकझोर कर अधिक व्यग्र स्वर में कहा—"असमा तुम मेरे सवाल का जवाब दे सकोगी।"

असमा अब भी चकित और मौन है। मौला ने आवेश में कहा—"मैं जानना चाहता हूँ असमा—क्या तुम्हारा प्यार मेरे लिए सच्चा है? क्या तुम राजकुमार को—?"

असमा चमक उठी—उसने अपना हाथ अलग कर लिया। फिर उसने धीरे धीरे गहरी आवाज़ में जवाब दिया...जैसे दूर बहुत दूर से बादलों की गरज सुनाई दी हो—"बस बहुत हुआ—आप के सवालों का मेरे पास कोई भी जवाब नहीं है। हाँ, एक बात कह देना चाहूँगी—आप को मालूम है—मेरी रगों में भी मुगल-सम्राटों का ही ख़ून है।"

*　　　　　*

आसमान में चाँद अब ऊपर चढ़ चुका था—चाँदनी की जादू में टीलें मुग्ध थे। चाँदनी में—महल अपने ही अंधकार की छाया में मौन कुछ अधिक व्यक्त हो उठा था...जैसे उसकी स्मृति उसके स्वप्न के रूप में टिल्लों के स्वप्न के साथ मिल गई हो। वृद्ध अब जैसे सो गया था और कदाचित् स्वप्न का धुँधलापन उसके सामने फैल रहा था।

❀　　　　　❀

असमा पलंग पर अपना मुँह अपनी हथेलियों से ढाँके लेटी हुई है—उसका सारा शरीर लाल चद्दर से आच्छादित है। मौला उसके सामने उद्विग्न और चिन्तित बैठा है...जैसे स्वप्न देखनेवाला अपनी चिंता के ख़्वाब के साथ चौंक पड़ा हो।

मौला ने, उसके मुख को खोलने का प्रयास करते हुए भर्राए स्वर में कहा—"असमा, तुमने यह क्या किया—अफ़ीम—जिन्दगी पर मौत की साया। असमा! अगर राजकुमार ने तुम्हारा अपमान किया था—तो उसका बदला मौला की तलवार ख़ूब ले सकती थी।

अपने मुँह को भरसक छिपाने का प्रयास करती हुई असमा ने धीरे धीरे कहा—"नहीं मेरे मालिक—अब यह मुँह तुम्हें दिखाने लायक

नहीं रहा। और इस बेइज़्ज़ती के बाद मेरे लिए बस—मौत ही प्यारी चीज़ है।"

मौला ने लड़खड़ाते स्वर में कहा—"नहीं असमा! तुमने ग़लती की, यह ऐसी कुछ बात नहीं हुई। मेरी तलवार का एक वार बस इतना ही ठीक था। ओह—हमारी ज़िन्दगी के सुनहले ख़्वाबों पर मौत की यह काली छाया।"

एकाएक असमा ने मुँह से अपने हाथ हटा लिए—चाँद पर जैसे एक छाया पड़ गई हो। वह कुछ उत्तेजित सी दिखाई दी—जैसे समुद्र में तूफ़ान के आसार दिखाई देते देते मिट रहे हों। उसने गहरे पर धीरे स्वर में कहा—"ज़िन्दगी नहीं—मालिक—ज़िन्दगी नहीं मेरे मालिक। मैंने तो सुना था—राजपूतों को ज़िन्दगी से मौत के ख़्वाब ही ज़्यादा मीठे लगते हैं।"

* *

महल की छाया में, अपने स्वप्न के धुँधलेपन में जैसे टटोलते हुए वृद्ध बुदबुदा उठा—"मौत के ख़्वाब।" बालू के विस्तार में चाँदनी का स्वप्न बिखरा हुआ था—और उसमें एक ओर महल अपने अँधेरेपन में 'मौत का ख़्वाब' समेटे खड़ा था।

* *

गढ़ के फाटक पर, हलके अँधेरे में राजकुमार और मौला खड़े हैं। राजकुमार ने गम्भीरता से कहा—"मौला? आज मैं तुम्हारा बदला चुका देना चाहता हूँ। मैं तुम्हारे सामने हूँ और मेरे पास मेरी तलवार है।"

मौला के स्वर में उदासी छा रही है—जैसे कोई दूर की घाटी में स्वर गूँज उठा हो—"बदला—जरूर लेता राजकुमार! लेकिन बदला ज़िन्दगी की निशानी है—मौत की नहीं।"

राजकुमार का दिल उमड़ आया—पर उसने दृढ़ता के साथ कहा—"लेकिन मौला! आज मैं भी अपना बदला चुकाना चाहता हूँ। असमा ने तुमसे मुझे माफ़ करने को कहा था—वह मेरा अपमान

था। और आज मैं अपना बदला चाहता हूँ।"

आकाश की घनी नीलिमा में अपने पंखों पर उठती हुई, मिटती हुई चीलह के समान किसी दूर के ख़्वाब से मौला ने कहा—"मजबूरी है राजकुमार! मौत न बदला चाहती और न मौत बदला देती ही है।"

राजकुमार ने निराश स्वर में कहा—"अच्छा तो मौला! मैं फिर सदा के लिए लौट जाऊँगा। आया था—सोचकर कि महाराज की आज्ञा के अनुसार तुम्हारा बदला चुकाकर कदाचित् एक बार फिर गढ़ में जा सकूँ—और राजकुमारी से...।" राजकुमार पास ही खड़े अपने घोड़े पर कूद कर चढ़ गया और उसका घोड़ा ढाल पर उतर रहा है।

मौला जैसे अपने स्वप्न में चौंका—"राजकुमार! अब तो महाराज नहीं हैं—और गढ़ में राजकुमारी अकेली...।"

राजकुमार दूर जा चुका है। और मौला फिर अपने में खो गया... गुलाबी सर्द हवा के झोंके से, उड़ने के स्वप्न देखनेवाला पक्षी जैसे चौंक पड़ा हो—फिर ख़्वाब के अँधेरे में उड़ता चला जा रहा हो—उड़ता चला जा रहा हो।

❀ ❀

चाँद अब पहाड़ी के दूसरी ओर जा चुका था। चारों ओर अँधेरा अधिक घना हो गया था। और उस अँधेरे में महल एक काली छाया सा खड़ा था। वृद्ध एकाएक जाग पड़ा—उसे लगा आज नशा फीका पड़ता जा रहा था और वह चाहता था बहुत गहरी नींद—जैसा घना अंधकार फैला था। उसने टटोल कर अफ़ीम की गोली निकाली और कई दिनों की ख़ूराक एक बार में ही निगल ली—और बाहर अँधेरा छाया हुआ था।...फिर उसको लग रहा था उसे नींद गहरी आ रही है। अँधेरा घना होता जा रहा था···घना होता ही जा रहा था।

❀ ❀

एक सफ़ेद केशोंवाली स्त्री चारपाई पर लेटी हुई है—और मौला

गुम-सुम आँखें झाँपे बैठा है—प्रभात के हलके प्रकाश में टिमटिमाते तारों की आभा की हलकी सफ़ेदी और उसके सामने रात के स्वप्नों का मिटता हुआ अँधेरा।

स्त्री ने धीरे से पुकारा—"मौला।" मौला ने अपनी सफेद भावहीन आँखें खोल दीं।

"मौला! मैं अब नहीं रहूँगी—सोचती हूँ अच्छा है।—लेकिन तुम्हारी चिंता कैसे होगी। तुम्हारी किलेदारी की पेंशन तो अफ़ीम भर को ही होती है।"

मौला की सफेद आंखो में चमक थी—टिमटिमाती लौ को हवा के झोंके ने तेज कर दिया हो—उसने व्यंग के स्वर में कहा—"मैं मानता हूँ, कुँअरि—तुम्हारा बदला पूरा हुआ। ओफ् औरत कितना कठोर बदला लेती है। आज तुमको अफ़सोस है···तुम मेरे 'मौत के ख़्वाब' को अधिक बढ़ा नहीं सकोगी।"

राजकुमारी ने अपनी वेदना को मुसकान के दुर्बल प्रयास में छिपाना चाहा...जैसे फूलों की पंखुड़ियों की शबनम को झाड़ती हुई सुबह की हवा निकल गई हो।—"लेकिन मौला, तुम्हें नहीं मालूम। बदला लेने के लिए कुँअरि को मौत की जिन्दगी भी बितानी पड़ी है। मौला—मैं जानती हूँ पुरुष की निर्ममता—उसे अपने मौत के ख़्वाबों के सामने किसी की मौत की ज़िन्दगी दिखाई ही कब दी है।"

मौला एक टक राजकुँअरि की ओर देख रहा है—उसकी आँखों में भावों की छाया है। और आज बरसों के बाद उसकी आँखों में दो बूँद आँसू झलक पड़े।

❀ ❀

वृद्ध खम्भे की ढोक से ढुलक पड़ा था। उसके आँखों के आँसू अंधकार में विलीन थे। उसी समय हवा का एक झोंका महल के जर्जर कलेवर को स्पर्श करता निकल गया—जैसे महल की सर्द आह चुपके से निकल गई हो।

स्वर्ग में मानव

(स्था०—नैनीताल; अलमोड़ा)   (काल—जून-जौलाई ४५ ई०)

रात की घनी अँधेरी कल्पनाएँ सुबह के हलके प्रकाश में मिटती जा रही हैं; और भोजीपुरा स्टेशन के कुछ आगे बढ़ते ही हिमालय की ऊँची श्रेणियाँ क्षितिज पर धुआँधार बादलों के रूप में स्वर्गीय कल्पना का आकार भरने लगती हैं। झक झक करती हुई रेलगाड़ी इस कल्पना-लोक की ओर दौड़ रही है......और प्रातः के स्पष्ट होते प्रकाश में वह कोमल कल्पना कठोर साकारता के महान सत्य में धीरे धीरे बदल जाती है। चढ़ती हुई धूप में नग्न श्रेणियों की कठोरता और भी अधिक प्रत्यक्ष होती जाती है। कोई यात्री संकेत करता है—'इस पहाड़ के नीचे काठगोदाम है और इसी के पार ऊपर नैनीताल है।' लगता है मृत्यु-लोक और स्वर्ग-लोक के बीच में यह दुर्धर्ष नंगी चट्टानों वाली श्रेणी फैली हुई है...और उस पार है—नैनीताल...स्वर्ग की कल्पना।

फिर उस कल्पित स्वर्ग के बीच में फैली हुई तुंग श्रेणी की महान् दुर्गमता काठगोदाम से नैनीताल के पथ पर विलीन होने लगती है। और घूमती हुई चक्करदार सड़क पर सर-सर मोटर-बस से ऊपर उठते हुए...सामने—हरी-भरी विस्तृत फैली हुई घाटियाँ,...सहस्रों

फ़ीट गहरे वृक्षों से भरे हुए खड्ड,......दूर पर रुकी हुई सी पानी की पतली धार,......और नीचे उतरते हुए रुई से सफ़ेद बादल,...... ऊपर उठी हुई विशाल चोटियाँ......और उनपर झूमते हुए देवदारु, विहँसते हुए बाँझ...सब मिलकर स्वर्ग की कल्पना चित्रमय साकार हो उठती है। और अंत में आ जाता है नैनीताल...एक झील दो ऊँची श्रेणियों से घिरी हुई अपनी तरंगों में लीन है...जैसे स्वर्गीय सौन्दर्य्य थिरक रहा हो।

परंतु! झील के नीले स्तर पर एक लहर उठती है...अपनी सीमा के विस्तार को बढ़ती हुई फैल जाती है...फैलती जाती है; उसी समय एक दूसरी लहर उसका स्थान ले लेती है और वह जल के विस्तार में विलीन हो जाती है। यह तो हृदय का स्पन्दन है—हृदय का प्रतिबिम्ब है—छाया है। लेकिन कहते हैं देवता की छाया नहीं होती; फिर स्वर्ग में मानव ?

* *

जीवन :—

पहाड़ी नगरों में ग्रीष्म में 'सीज़न' होता है। उस समय ग्रीष्म-यात्रियों के झुंड के झुंड इस सौन्दर्य्य स्वर्ग के नन्दन-वन में विचरण करते दिखाई देने लगते हैं। जाड़ों में बर्फ़ से आच्छादित रहनेवाला यह प्रदेश पृथ्वी के मानवों से पूजित देवगण की मादक क्रीड़ास्थली बन जाता है। चारों ओर निर्द्वंद सुख और निश्चिंत उल्लास उमड़ पड़ता है। देवताओं की मस्त क्रीड़ाशीलता में मानवों के दुःख-सुख की बात उठती ही कहाँ है। और फिर ठीक ही तो कहा जाता है—देवताओं की छाया नहीं होती।

* *

नैनीताल के पूर्वी किनारे पर तल्लीताल में मोटर बस का स्टेशन है। यहाँ 'सीज़न' में हर समय बसें आती-जाती रहती हैं। उस स्थान की ओर पंद्रह-बीस भोटिया खड़े या बैठे थे। इनका क़द मझोला

था—कुछ का रंग पीला के लगभग था—तो कुछ का श्यामता को पहुँचा हुआ। गड़ी सी आँखें, कुछ चपटी सी नाक और मुँह की चौड़ी हड्डियों से उन पर मंगोलियन जाति के रक्त-संबंध का संकेत मिलता था। वे ढीले ढीले, सड़क के मोड़ पर आँखें लगाए हुए थे; किसी विशेष उत्साह से नहीं........वरन धीरे धीरे, क़दम क़दम पहाड़ पर जम जम कर चढ़ने जैसी प्रतीक्षा में। इन सब से कुछ दूर-हटकर झील के किनारे की ओर पेड़ के नीचे एक भोटिया नवयुवक बैठा था। वह इस मौसम में नया ही काम पर आया था, इस कारण इनमें हिलमिल नहीं सका था। उसका शरीर गठा हुआ था और रंग भी निखरा हुआ था। उसके ऊँचे और चिपक रेजी के पैजामें में कितने ही धब्बे थे और ऊनी कोट में भी स्थान स्थान पर चकती लगी हुई थीं। सिर पर काले कपड़े की गोल टोपी से इधर उधर बढ़े हुए बाल लटक रहे थे। उसकी डोरी ज़मीन पर पड़ी हुई थी और उसी पर अपना दाहिना हाथ टेके हुए वह बैठा था। उसका मुख झील की ओर ही था और वह भावहीन दृष्टि से झील की तरंगों में हिलते हुए पर्वत के प्रतिबिम्ब को देख रहा था,—जैसे अपने उड़ते हुए किसी स्वप्न को पकड़ रहा हो। उसी समय उसका ध्यान अपने साथियों की ओर गया।

उसने देखा एक अँगरेज़ी साहब किसी वस्तु के साथ खड़ा है। और उसको चारों ओर से उसके भोटिया साथी घेरे हुए हैं। उत्सुकता की प्रेरणा से धीरे धीरे वह उस स्थान पर पहुँच गया। साहब पाँच छः मन के उस सेफ़ को चाइना-माल के किसी बंगले में ले जाना चाहता था। पर उसको ले जाने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता था। वे कहते थे कि सेफ़ अकेले के बस का नहीं है, मिलकर ले जा सकते हैं। पर साहब देखना चाहता था कि क्या कोई अकेला व्यक्ति इतना बोझा लेकर पहाड़ पर चढ़ सकता है। सेफ़ आकार में वैसा बड़ा नहीं था; ठोस लोहे का होने के कारण ही उसका बोझ अधिक

था। उस युवक भोटिया ने पास जाकर सेफ़ को हिला-डुलाकर उसके बोझ का अन्दाज़ लेना चाहा। साहब ने उसकी इच्छा पकड़नी चाही—"तुम जवान आदमी है, तुम जरूर ले जाने सकता है—भोटिया बहोत मज़बूत होता है। हम तुम को एट रूपी देगा।" युवक भोटिया ने प्रश्न भरी दृष्टि से अपने अभ्यस्त साथियों की ओर देखा, उसमें युवावस्था की लज्जा थी। साथी मूक थे, परंतु उनके मुख पर उसकी अल्हड़ शक्ति के प्रति व्यंग और उनकी आँखों में उसके दुःसाहस पर उपेक्षा की हँसी थी। उसका युवा-शक्ति की लज्जा में सोया हुआ स्वाभिमान जाग्रत हो गया; उसने अपने शरीर को कुछ सीधा किया और साहब से कह दिया—"साहब! हम ले जाने सकता है।"

उसके इतने शीघ्र तत्पर हो जाने पर साहब को आश्चर्य हुआ, उसने अपनी प्रसन्नता को दबाते हुए कहा—"माल-रोड...चाइना माल।"

"चाइना माल साहब" उसके इस शब्द के साथ ही सभी अन्य भोटियों के सामने उसका चौड़ा सीना, भरी रानें और भीजती मसें प्रत्यक्ष हो उठीं। एक भोटिया कुली ने उसके भार का अन्दाज़ देने के लिए कहा भी कि सेफ़ आठ दस मन से कम नहीं होगा। परंतु युवक भोटिया, एक बार पहाड़ की ऊँची चोटियों पर अपनी दृष्टि फेंकते हुए सेफ़ पर झुक चुका था। उसके सामने इन पर्वतों की चोटियों के सुदूर उस पार की एक पहाड़ी घाटी-प्रदेश घूम गया, जहाँ उसने अपने जीवन के कितने ही वर्ष खेलकर और गाकर बिताए थे। घाटी के ढालों पर शर्त लगाकर पत्थर के बड़े बड़े खंडों को लेकर कितनी आसानी से वह चढ़ जाता था। वह सोच रहा था—'क्या वह इस चीज़ को नहीं ले जा सकेगा? यदि कुछ भारी है तो क्या? इकट्ठा आठ रूपए तो कम नहीं होते। इतना तो वह कई दिनों में भी नहीं कमा सका है।' आज बचपन की वह घाटी उसके जीवन की प्रेरणा हो रही थी। और सब के देखते ही देखते स्वाभाविक ढीलेपन से

सेफ़ की कड़ियों में रस्सी कस कर, और उसे सिर के बल पीठ पर लादकर, वह साहब के पीछे जा रहा था।

जीवन की अज्ञात प्रेरणा ने उसकी शक्ति के अहंकार को जगा दिया था; और वह उस भारी सेफ़ को साधारण वस्तु के समान ही ले जा रहा था। सड़क पर कुछ दूर आगे बढ़ने के बाद चाइना-माल के लिए दाहिने हाथ पर चढ़ाई आरम्भ हो जाती है; और वह उस चढ़ाई पर अन्दाज़ अन्दाज़ कर कदम रख रहा था...जैसे उसे कोई प्रयास ही न पड़ रहा हो। मेरु-दण्ड पर झुका हुआ, बोझ को तोलते हुए, पैर को स्थिर करता हुआ, जमा जमाकर वह ऊपर चढ़ता चला जा रहा था। सामने के पहाड़ों पर हवा के झोंकों से बाझ हरे से एकाएक सफ़ेद हो उठते हैं; मानों हवा के स्पर्श से हँस हँस पड़ते हों......ऊपर के ढालों पर चीड़ और देवदारू झीम रहे थे—और मार्ग में सेवती के सफ़ेद फूलों की मुसकान फैल रही थी। और वह इन सब से निरपेक्ष पहाड़ी ढाल पर क़दम क़दम चढ़ता चला जा रहा था। **उसके सामने अपने बचपन की घाटी कभी नाँच उठती है और कभी आठ रुपये के चित्र बन जाते हैं**...उसके शरीर में न कहीं अस्थिरता थी और न उसके पैरों में कंपन ही।...और झील में लहरें उठ-उठ कर मिट रही थीं।

*　　　　*

संघर्ष :—

समुद्र के धरातल से साढ़े सात हज़ार फिट ऊँचे प्रदेश में, उसने अभी सेफ़ को रखकर एक गहरी साँस ली ही थी कि साहब ने उसके सामने पाँच रूपए का नोट बढ़ा दिया। उसने हाथ में रूपए लेते हुए आश्चर्य और आग्रह से पूछा—"और साहब।"

साहब ने निश्चय के जैसे ढंग से कहा—"तुम आसानी ले आया—कुछ भी मेहनत नहीं लगा; हम इतना ही देगा।"

युवक भोटिया का आश्चर्य निश्चय की दृढ़ता में बदल रहा

था—"ऐसा नहीं होने सकता साहब—हम वादा किया था।"

साहब—"भाग जाओ। हम और नहीं देगा।"

भोटिया का निश्चय क्रोध में परिवर्तित हो चुका था, परंतु कदाचित् पहाड़ी प्रकृति में क्रोध से अधिक ज़िद होती है—"नहीं साहब! हम नहीं मान सकता। हमने मेहनत किया है—हम इसको फिर वापस ले जायगा।" उसने नोट वापस कर दिया। स्वर्ग के गौरांग देवता मानवीय भावनाओं से खेलने के लिए जैसे उत्सुक हो उठे—"तुम पहुँचाने सकता है; हम और नहीं देगा।"

भोटिया-युवक के मुख पर क्रोध था; परंतु उसकी आँखों में प्रतिहिंसा के स्थान पर ज़िद का भाव ही अधिक प्रत्यक्ष था। उसने उसी प्रकार फिर सेफ़ को सिर के सहारे लाद लिया और चल पड़ा। उसके पैरों में पहले से अधिक शीघ्रता थी; उसका क्रोध उसे प्रेरणा दे रहा था। उसकी ज़िद उसे शक्ति दे रही थी और वह पैरों पर बोझा सँभालता हुआ पग पग नीचे उतर रहा था। अपनी चारों ओर की हरियाली से निरपेक्ष वह नीचे उतर रहा था—सामने का पहाड़ जैसे मिटकर अदृश्य हो गया हो—और वह नीचे पहुँचना चाहता था—बस। उसकी आँखों के सामने बस-स्टेशन का कोलाहल पूर्ण वातावरण था—और उसे लग रहा था जैसे विलीन होती उसके बचपन की घाटी के साथ आठ रूपये भी मिट रहे हैं। और वह नीचे उतरता चला जा रहा था—कभी कभी जैसे कुछ हिल सा जाता हो...और बस।

ओलियम्पस पर्वत के देवता सदा ही मानव-भाग्य से खेलकर प्रसन्न होते रहे हैं; यद्यपि भारतीय स्वर्ग के देवता अपने सत्व और अस्तित्व की रक्षा मानवों की सहायता से ही करते रहे हैं। स्वर्ग के देवता मानव-भावों से खेल कर रहे थे; और वह नीचे उतर रहा था सँभाल सँभाल कर, पग-पग। नन्दन बन के देवदारु और वाफ़ हँस रहे थे। उसी प्रकार झील में लहरें उठती थीं और मिट जाती थीं।

स्वप्न :—

तल्लीताल पहुँचने पर साहब ने उसे सोलह रूपए किराए के अतिरिक्त बीस रूपया इनाम के भी दिये। भोटिया अपने क्रोध की ज़िद पर लज्जित था, क्योंकि साहब के प्रति उसकी दुर्भावना धुल चुकी थी। वह शांत चुपचाप, एक ओर स्थिर होकर अपने ओलियम्पस के भाग्य-देवता की कौतुक-क्रीड़ा देख रहा था। साहब अब तीस रूपया देकर भी किसी अन्य भोटिया के द्वारा सेफ़ ले जाना चाहता था। देवता अब किसी अन्य मानव के भाग्य से खेलना चाहते थे। और उसके भाग्य को देखना चाहते थे। परंतु कुछ भोटियों ने उस सेफ़ को अजमाकर भी देख लिया—वह उनके अकेले के बस की बात नहीं थी। युवक भोटिया ने दूर से ही देखा—कोई भी तैयार नहीं हो रहा है। उसने विचार किया...'यदि आज ही तीस रूपया और मिल जायँ तो उसके पास ढेर से रूपए हो जायँगे और वह सीज़न समाप्त होने के पहले ही घर लौट सकेगा। लेकिन वह एक बार फिर ले जा सकेगा—थकावट तो अधिक लग नहीं रही है। पाँच मिनट सुस्ता कर ही वह फिर ताज़ा हो जायगा।' अंत में उसने संकोच के साथ फिर ले जाने का प्रस्ताव किया। साहब को उसके लालच पर हँसी आई, परंतु वह उसपर प्रसन्न था इसलिए दया भी आई। उसने युवक को मना किया। परंतु उसके लोभ का दम्भ ने साथ दिया और उसने आग्रह किया वह थका नहीं है, ले जा सकेगा। देवता फिर मानव के लोभ की शक्ति देखने के लिए लालायित हो उठे।

एकबार फिर भोटिया-युवक ने अपनी शक्ति संग्रहित करके उस सेफ़ को सिर के सहारे पीठ पर उठा लिया और चलने को प्रस्तुत था। परंतु इसबार उसे बोझा अधिक भारी जान पड़ रहा था। उसका शरीर आवश्यकता से अधिक झुका हुआ था और चाल भारी पड़ रही थी। झील के किनारे की सड़क पर उसे प्रत्येक पग पर लग रहा था, जैसे वह आगे बढ़ नहीं सकेगा।...फिर दाहिनी ओर

चाइना-माल की चढ़ाई का रास्ता था। उसने एक गहरी साँस लेकर तैरती दृष्टि से जल की तरंगों को उठते बनते देखा—और देखा—सामने की पर्वत-श्रेणी पर एक रस हरियाली फैली हुई है। उन सब के बीच से जैसे वह कहीं से प्रेरणा ढूँढ़ रहा हो। और फिर वह बाँझ के घने पेड़ों के बीच रास्ते पर सँभाल सँभाल कर पैर बढ़ा रहा था।

और ऊँचाई पर देवदारु तथा चीड़ के कोनाकार वृक्षों की झीमती हुई नोकों पर होता हुआ उनका मन ऊपर उठता जा रहा है। उसके सामने आठ रुपए के, बीस-तीस रुपए के चित्र बारी बारी से आते हैं...एकाएक बहुत से रुपयों का चित्र बन जाता है। फिर जैसे वह बाँझ की हँसी से एकाकार हो उठा। वह धीरे-धीरे चीड़ और देवदारु वृक्षों के ऊपर होता हुआ चाइना पीक पर पहुँचकर उसकी चोटियों पर झूमते हुए बादलों के साथ उत्तर की घाटियों में उतर रहा है। घाटी धुआँधार बादलों और हरे भरे वृक्षों से भरी है और वह उसको पार करता चला जा रहा है।

युवक भोटिया चाइना-माल की चढ़ाई पर चला जा रहा था... पग-पग आगे बढ़ता।

वह घाटियों में होता हुआ पच्छिम की ओर के वृहदाकार घने बादलों के समान फैली हुई कितनी ही पर्वत-श्रेणियों को पार करता गया—करता गया—वह अपने चारों ओर की फैली हुई हरियाली के प्रति निरपेक्ष होकर तेज़ी से आगे बढ़ रहा है।

और युवक भोटिया थाम थाम कर पग पग ऊपर बढ़ रहा था।

वह पर्वत-श्रेणियों के मध्य की एक घाटी में पहुँचता है। उस घाटी में वह कुछ रुकता सा है। घाटी के मध्य में एक छोटा सा पहाड़ी-ग्राम है। और घाटी में तथा ढाल पर उस ग्राम के सुन्दर खेत बने हुए हैं। उस गाँव में, पत्थर से बने हुए तथा लकड़ी और टीन से छाए हुए घर के द्वार पर एक पहाड़ी युवती तीन वर्ष के शिशु को लिए खड़ी है।

युवती पलकें उठाए देख रही थी—घाटी में छाते हुए बादलों को।

और भोटिया युवक क़दम-क़दम अपने मार्ग पर चला जा रहा था।

उसी समय घाटी में भेड़-बकरियों के गल्ले को चरानेवाला पहाड़ी युवक अपनी भाषा में गा उठता है—"प्रेयसि; तुम रूठो मत। हमारी घाटी में बादल छा रहे हैं। अगले वर्ष में भी कितने ही पहाड़ों पार कमाने जाऊँगा—और वहाँ से कमाकर जब लौटूँगा तो तुम्हारे लिए......।"

और अब युवक भोटिया चाइना-माल के उसी बँगले के सामने खड़ा था।

अन्त:—

युवक ने बोझा उतार दिया था—और उसका स्वप्न भी भंग हो गया था। उसकी कमर-पेटी में छयानवे रूपया थे और हाथ में एक ब्रांडी की बोतल थी। साहब उससे बहुत अधिक प्रसन्न था—उसने उसे तीस रूपया इनाम का दिया था—और पीने के लिये एक बोतल ब्रांडी जिससे उसके फेफड़ों को इतने परिश्रम के बाद ताक़त मिल सके। परंतु युवक-भोटिया को उस बोतल से ताक़त मिलने से अधिक बचाकर रुपया पाने पर विश्वास था। लेकिन उसे अब आगे बढ़ना भी कठिन लग रहा था—उसे लग रहा था जैसे साँस लेने में कठिनाई हो रही हो। वह बैठना चाहता था—सुस्ताना चाहता था। सड़क से हटकर एक सोते के किनारे वह पत्थर की शिला पर बैठ गया। विचार किया—कदाचित् कुछ खाकर पानी पीने से तबियत ठीक हो जायगी। उसने अपनी चबेने की पोटली निकाली और उसमें से एक फंकी ली। परन्तु यह क्या! उसे तो कच्ची मतली आ रही है—सास घुट सी रही है। इधर दक्षिण के पर्वतों की हरियाली अंधकार में डूब रही थी, केवल पश्चिम की एक चोटी पर लाली कीकुछरेखाएँ भर शेष थीं।

उसी समय युवक भोटिया को ख़ून की कै हुई...झरने के पानी पर उसकी लाली फैल गई—और वह मूर्छित हो रहा था। उसके सामने बड़ी शीघ्रता से चित्र भाग रहे थे—चमकते हुए रुपए...भारी होती हुई चढ़ाई...देश की घाटी...बुड्ढे माता-पिता...उसकी युवती पत्नी...और उसका कोमल शिशु। फिर उसकी मूर्छा में सभी कुछ डूब गया। चारो ओर अंधकार छा चुका था।

पवन का झर-झर करता हुआ झोंका देवदारु और चीड़ के वृक्षों को हिलाता हुआ निकल गया। झक से सामने की पर्वत श्रेणियों में बिजली के बल्ब जल उठे। और उनके प्रतिबिंबित प्रकाशों के साथ झील अपनी उठती हुई तरंगों से आँख-मिचौनी खेल रही थी।

मौन संवेदना

(स्थान—लालबाग़; फ़ैज़ाबाद) (काल—जून ४२ ई०)

"तू इतना दुष्ट क्यों है किरण ?" अपनी दिन भर की थकावट को ढीला करते हुए बाबू साहब चारपाई पर बैठ गए। अपनी पुरानी फेल्टकैप को एक हाथ में लेकर श्रांत-भाव से जैसे अपने आप से कहने लगे—"इस लड़के को जितना सुधारने का प्रयास किया जाता है, यह उतना ही बिगड़ता जाता है। कैसा लड़का है—हमारा तो सारा प्रयास ही विफल हो गया। और आश्चर्य है—जो हम चाहेंगे यह उसका उलटा ही करेगा।"

बाबू साहब के इस स्वगत कथन पर श्याम रंग की स्थूलकाय गृहणी जो क्रोधित से अधिक व्यथित दिखाई पड़ रही थीं, उत्तेजित हो उठीं। सामने तनकर खड़े हुए गोरे रंग के सुन्दर लड़के की बाँह पकड़कर झकझोरते हुए उन्होंने कहा—"यह सब तुम्हारे ही तो सिर चढ़ाने का फल है। यह दिन पर दिन झूठ बोलेगा—चोरी सीखेगा। और तुम...तुमसे मतलब ही क्या!"

बाबू साहब ने इस दोषारोपण को जैसे चुपचाप स्वीकार किया। उन्होंने किरण को अपने सामने करके कहा—"क्यों किरण! बोलो तुम आज स्कूल से क्यों भाग आए; फिर माता जी से झूठ क्यों बोले ?"

पिता जी की शांत वाणी से किरण का तना हुआ शरीर कुछ ढीला हुआ और उसकी आँखें भी नीची हो गईं—"नहीं तो पिता जी।" उसने कहा।

इस पर गृहिणी का क्रोध अधिक उग्र हो उठा; उन्होंने उसका कान ज़ोर से खींचकर डाँटा—"फिर झूठ! मुँह पर ही झूठ बोलता है। बेईमान! फिर झूठ बोलेगा तो जीभ ही निकाल लूँगी।"

बाबू साहब को यह कठोरता आवश्यकता से अधिक लगी; उन्होंने उसे छुड़ाते हुए प्रतिवाद किया—"देखोजी! तुम मार-पीट अधिक मत किया करो। मारने से ही लड़के नहीं सुधर जाते। उलटे इसका लड़के पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।"

परन्तु यह तो अग्नि में घी की आहुति थी; गृहिणी के क्रोध में ज्वार आरहा था—"यह सब इसी का फल है। मैं कहे देती हूँ मुझसे यह सब बरदाश्त नहीं हो सकता। मुझसे अगर झूठ बोलेगा तो हज़ार बार पीटूँगी। और देख लिया तुम्हारा सुधार। लड़का दिन पर दिन बिगड़ता जाता है—वह चुपचाप स्कूल से भाग आएगा, पूछने पर झूठे बहाने सुनाएगा, और बाप दुलार करके सुधार करेगा। मुझसे यह सब देखा नहीं जायगा।"

गृहिणी अपनी स्थूलता का भार पैरों पर डालते हुए—अपना असंतोष घोषित करती—धप धप कमरे के बाहर हो गईं। बाबू साहब ने बैठे ही बैठे अपना बंद कालर का कोट उतार कर एक ओर रख दिया और किरण को अपने पास खींचकर प्यार के स्वर में पूछा—देखो किरण, मुझे सच सच बता दो, स्कूल से छुट्टी होने के पहले क्यों भाग आए थे!"

किरण गरदन झुकाए—आँखें नीची किए अपनी अँगुलियों से उलझ रहा था। बाबू साहब ने उसके हाथ को अपने हाथ में लेकर कहा—"बेटा! देखो तुम्हारी भलाई के लिए ही तो हम डाँटते हैं। झूठ बोलना, चोरी करना बहुत बुरा काम है। बोलो हम कभी झूठ

बोलते हैं ? जो लड़का झूठ बोलता है—चोरी करता है, उस लड़के को न तो कोई पास आने देता है और न प्यार ही करता है। मैं कुछ नहीं कहूँगा—तुम मुझसे सच-सच कह दो—क्या बात थी—तुम क्यों स्कूल से जल्दी चले आए थे ?"

किरण ने भरे गले से धीरे धीरे कहना आरम्भ किया—"पिता जी ! मैं खेलने के लिए चला आया था। घर आने पर माता जी किसी के साथ खेलने देती नहीं हैं।"

जलपान लेकर आते समय गृहिणी ने सुना; उनका क्रोध ग्लानि में परिवर्तित हो चुका था। प्रवेश करते हुए उन्होंने कहा—"हाँ ! मैं तो तेरी दुश्मन हूँ। इन लड़कों के साथ नहीं खेलेगा तो ये गुन कैसे सीखेगा। हे भगवान् यह कैसे सुधरेगा।"

गृहिणी की इस प्रार्थना में निराशा की असमर्थता थी।

* *

किरण कुमार अपने माँ बाप का अकेला लड़का था। उसके स्वभाव में एक प्रकार की उद्दंडता जड़कर गई थी जिसको उखाड़ना अब कठिन लगता था। प्रारम्भ में माँ ने उसको संबंधी तथा पड़ोस के लड़कों से दूर रखा था। भय था कि कहीं लड़का बिगड़ न जाय। उसने अकेले ही खाया था और अकेला ही रहा था। उसमें सब बच्चों के साथ खेलने की स्वाभाविक भावना न हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसमें सहिष्णुता की कमी थी—जो अन्य लड़कों के बीच में रहने से आती है। वह अब अपने को अन्य लड़कों के बीच में ठीक बैठा नहीं पाता था, उसके चरित्र में कुछ ऐसी कमी रह गई थी। जिसको अँग्रेजी के Adjustment से अधिक व्यक्त किया जा सकता है। हाँ तो वह अपने को ठीक बैठा नहीं (Adjustment) पाता था। और इस कमी के कारण उसकी अन्य लड़कों से पटरी नहीं बैठती थी। दस ग्यारह वर्ष का किरण जिन साथियों के साथ खेलने के लिए चोरी करता, झूठ बोलता, उनसे भी थोड़ी देर में ही झगड़

बैठता। वह न तो स्वयं ही उनसे प्रसन्न रह सकता और न उनको ही प्रसन्न कर पाता।

धीरे धीरे उसमें उद्धत प्रवृत्ति और झूठ बोलने का आग्रह बढ़ रहा था। स्कूल से उड़ आता और घर पर कह देता छुट्टी हो गई। परीक्षा में प्रश्न जान बूझ कर छोड़ आता और पूछने पर सब के उत्तर ठीक बता देता। साथ ही इन सब बातों के साथ वह अपना स्वाभिमान भी रखता; और ऐसी स्थिति में उस पर सन्देह करना भी कठिन हो जाता। आश्चर्य यह था कि इन सब बातों को करने की उसे कोई आवश्यकता ही हो—ऐसा भी नहीं सोचा जा सकता। माता की कठोरता के सामने वह और भी दृढ़ हो जाता; जब कि पिता की कोमलता के सामने वह नम्र हो जाता था, और लगता था जैसे वह पश्चाताप करता हो।

* *

बाबू साहब के पक्के मकान के बगल में एक खपरैल का कच्चा मकान भी था। उसमें वेदाध्यायी ब्राह्मणों के वंशजों का एक परिवार रहता था। समय की परिवर्तनशीलता के अनुसार वे अपने ब्राह्मणत्व में किसी प्रकार का परिवर्तन स्वीकार करने को तैय्यार नहीं थे, केवल वेद-पाठ के कार्य-क्रम से बैलगाड़ी हाँकने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। लेकिन उससे उनके जन्मजात ब्राह्मणत्व में किसी प्रकार का फ़र्क नहीं पड़ता। शिक्षा के नाम पर उनके परिवार में गाली देने का अच्छा प्रचार और अभ्यास दोनों ही था। इसी परिवार के गृहपति दमड़ी पंडित को कहीं एक बालक मिल गया—बेचारा बे माँ-बाप का निराश्रय लड़का। दमड़ी पंडित दयावश उसको ले आए थे, परन्तु उनके बड़े परिवार ने इस महँगी में उसको अपनाने में अधिक उत्साह नहीं दिखाया। पंडित जी की स्त्री ने उसी दिन उसकी कहीं नौकरी लगा देने का भार अपने ऊपर ले लिया। अधिक व्यस्त होने पर भी जब कहीं नौकरी का सुभीता नहीं लगा तब उसने पड़ोस की बहू जी

के पास जाकर कहा—"बहू जी! एक गरीब लड़का है। अगर आप रख लें तो अच्छा है। मेरे बस की बात तो है नहीं। इस मँहगाई में अपने परिवार का पेट पल जाय तो भगवान् की दया समझिए। आप बड़ों के यहाँ तो कोई बात नहीं—पड़ा रहेगा।"

बहू जी अपने पास-पड़ोस में सब प्रकार से हिसाबी प्रसिद्ध थीं। इसी कारण उनके यहाँ किसी नौकर का गुज़र नहीं हो सकता था। उन्होंने इस मँहगाई के समय नौकर रखने में आगा-पीछा सोचा। लेकिन बाद में इस अनायास के आए हुए लड़के को रखने में उन्होंने सुभीता समझा। वे स्वयं कुछ दिनों से अपने मायके जाने का विचार कर रहीं थीं। परन्तु बाबू साहब का कोई हिसाब बैठ नहीं पा रहा था। इन दिनों तो कहारिन ने भी काम छोड़ रखा था। उनके स्वयं रहने पर तो काम चल ही जाता है, लेकिन बाद में कैसे होगा। सोचा इस लड़के से कुछ काम तो चल ही जायगा। और साथ ही इस लड़के की निरीह अवस्था का ख़्याल बहूजी को बिलकुल न हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

* *

चंदर रख लिया गया। उसके रखने में किसी को कुछ सुभीता हो, परन्तु किरण को विशेष प्रसन्नता थी। पहले तो उसका स्वागत तंग करने से आरम्भ किया गया। उसको चिढ़ाया भी गया और चपत भी लगाई गई। कभी हिलाया-झुलाया और फिर कभी ढकेल भी दिया। कभी उसकी पीठ पर बैठकर उसे घोड़ा बनाकर चलाया गया। पहले तो बहूजी ने इस ओर ध्यान रखा और किरण को डाँट देती थीं। परन्तु जब देखा इन सब बातों में चन्दर स्वयं भी प्रसन्न रहता है तो उन्होंने बोलना बन्द कर दिया। जब किरण ने अनुभव किया कि यह लड़का तो प्रतिकार-शून्य बिलकुल निरीह है, उसने अपनी परीक्षाएँ बन्द कर दीं, और उसे अपना सहचर बना लिया। उसको लेकर कितनी ही खेलने, घूमने की स्कीमें बनने लगीं। अब किरण को लगा कि

यह भोला साथी मूर्ख नहीं, वरन् खेल-कूद में अच्छा साथी सिद्ध होता है। माता जी का नियंत्रण उसको खलता था। माता जी उसे अपने काम-काज में लगाए रखती थीं और वह चाहता था कि चन्दर सब काम छोड़कर उसके साथ ही रहे। वह तो चन्दर को नाना के घर भी ले जाना चाहता था। परन्तु पिता जी की बात समझाई जाने पर वह मान गया। हाँ! नाना के घर उसका जी अधिक लग नहीं सका, उसको चन्दर की याद आती रही।

* *

नाना के घर से लौटने पर एक दिन किरण घर में इस उत्सुकता में चक्कर लगा रहा था कि चन्दर को छुट्टी मिल जाय तो वह उसके साथ-साथ खेलने जाय। चन्दर तरकारी काटने में व्यस्त था। उसकी काली घनी बरौनियाँ अपने काम पर झुकी थीं। वह केवल कनखियों से भइया जी की व्यग्रता को देख भर लेता था पर सिर नीचा किए वह अपने काम में ऐसा व्यस्त था जैसे कुछ जानता ही नहीं। और बहू जी कुछ व्यस्त होकर किसी चीज़ को खोज रही थीं। चन्दर की नीरव शीघ्रता और किरण की व्यग्र उत्सुकता दोनों पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ रही थी—वे किसी चीज़ को खोजने में जैसे अपने आप ही में खोई हुई हों। धीरे धीरे बहू जी की चाल कुछ भारी होती जा रही थी और भृकुटियों में बल पड़ रहे थे। उस समय भावनाओं के विभिन्न कोणों से तनाव के कारण वातावरण शांत था, पर जैसे आँधी आने ही वाली हो। अंत में बहू जी आँगन में पड़ी हुई चारपाई पर थक कर बैठ गयीं और उन्होंने बुलाया—"किरण!" उसी समय किरण की उत्सुकता चरम पर पहुँच चुकी थी। उसने चन्दर का हाथ पकड़कर घसीटना शुरू किया—"चन्दर चलो बिल्ली का बच्चा पकड़ें, मेरे अकेले के तो हाथ ही नहीं आता। माता जी तरकारी ठीक कर लेंगीं।"

इस अवज्ञा पर बहू जी का क्रोध अधिक बढ़ गया। उन्होंने

किरण का कान पकड़कर अपने सामने खड़ा करके पूछा—"ठीक-ठीक बताओ किरण।"

किरण इस घटना के लिए बिलकुल तैयार नहीं था, उसने आतंकित होकर पूछा—"क्या! माता जी।"

"तुमने अलमारी से रूपया उठाया है?"

"नहीं तो! मैंने कहाँ लिया है।" उसके स्वर में सरल गंभीरता थी। बहू जी उसकी सत्यता पर एकाएक अविश्वास नहीं कर सकीं। उन्होंने चन्दर को बुलाकर पूछा—"क्यों चन्दर! तुमने तो नहीं लिया।" चन्दर इस समस्त घटना से भयभीत हो उठा था, उसने अपनी बड़ी बड़ी पलकोंवाली आँखों को उठाकर कहा—"नहीं तो माता जी! मैं तो उधर गया ही नहीं।"

इस पर बहू जी के आश्चर्य ने क्रोध का रूप धारण कर लिया—"तो क्या अलमारी ने खा लिया? किरण तुम्हारी दुष्टता बढ़ती ही जाती है। तुम्हारी ही बदमाशी है। अब तुम ऐसा भी करने लगे। ठीक-ठीक बताओ नहीं आज हड्डी ही तोड़ दूँगी।" बहू जी ने क्रोध में बाँस की एक छड़ी उठाली। किरण ने उद्दंडता से कहा, उसके स्वर में क्रोध था—"मैंने नहीं लिया। मैं नहीं जानता तुम्हारा रूपया-ऊपया।" इस धृष्टता पर तो बहू जी आग हो गईं। उन्होंने किरण को पीटना आरम्भ कर दिया। मार खाने पर भी किरण नहीं नहीं ही करता जाता था। किरण की ज़िद के साथ बहू जी की भी ज़िद बढ़ती जाती थी। चन्दर भय और आतंक से काँप रहा था; परन्तु भइया जी के लिए उसके हृदय की करुणा आँखों में झाँक रही थी। उसके होंठ कई बार हिलकर रुक गए। परन्तु अंत में उसने कहा—"भइया जी ने रूपया नहीं लिया है माता जी।"

इतना कहते-कहते जैसे वह रुक गया, उसकी आँखें नीची हो गईं और शरीर स्थिर हो गया। थोड़े समय के लिए बहू जी चकित होकर रुक गईं। परन्तु दूसरे ही क्षण दूने क्रोध से चन्दर पर टूट

पड़ीं। किरण काफ़ी मार खा चुका था। अब तक उसे ज़िद और क्रोध के अतिरिक्त किसी चीज़ का ध्यान नहीं था। पर इस घटना से वह भी चकित रह गया। चन्दर पिट रहा था। और बहू जी चिल्ला भी रही थीं—"टुकड़ख़ोर! अभी से ये गुन। मैं तो समझती थी—बेचारा सीधा-सादा लड़का है। गुरगा कहीं का। लड़के को पिटते देखता रहा। मैं मारते-मारते अधमरा ही कर दूँगी। बाबू जी को आने तो दे—देख आज ही तो निकाल बाहर करती हूँ।"

चन्दर चुपचाप पिट रहा था। उसने आँसू भरी दृष्टि से किरण की ओर देखा। किरण ने जैसे कुछ निश्चय किया, फिर आगे बढ़कर चन्दर के सामने खड़ा हो गया और दृढ़ गंभीर स्वर में बोला—"माता जी! चन्दर को क्यों पीटती हो, रूपया उसने नहीं लिया है।"

इस पर आश्चर्य-चकित होकर बहू जी ने चन्दर को पीटना बंद कर दिया। परन्तु उनकी झुँझलाहट और खीझ बढ़ गई, और उन्होंने दोनों को खींच कर कोठरी में बंद कर दिया। फिर वे आप अस्थिर और अशांत चारपाई पर धप से बैठ गईं, सारी झुँझलाहट को व्यक्त करने लिए उन्हें जैसे शब्द ही न मिलते हों। उसी समय बाबू साहब भी आ गए। उन्होंने घर में घुसते ही बादल बूंदी का आभास पा लिया था। बहू जी के मुख पर क्रोध के चिह्न अब भी शेष थे। लड़के दिखाई तो नहीं दे रहे थे—पर उनकी हिचकियाँ आ रही थीं। बाबू जी ने गृहिणी के पास ही बैठते हुए शांत स्वर में पूछा—"आख़ीर आज बात क्या है"।

बहू जी जैसे अपने दबे हुए आवेश में उठ खड़ी हुईं और बोलीं—"मेरी तो अब इस घर में गुज़र नहीं हो सकती।"

"तो दूसरा ही सही, जहाँ तुम्हारा गुज़र हो सके।" बाबू साहब ने मज़ाक करना चाहा। इस पर बहू जी का उतरा हुआ ज्वार तो नहीं चढ़ सका, लेकिन उत्ताल लहर गरज़ उठी—"हाँ हाँ! क्यों नहीं! तुम्हारे नाक तो है नहीं। लड़कों का सत्यानाश कर दिया। वे

चोरी करेगें—झूठ बोलेगें। और अगर मैं बोलूँ तो घर से निकल जाऊँ—दूसरा घर कर लूँ।"

बाबू साहब ने डर कर पूछा—"आख़ीर बात क्या है? कुछ बताओगी भी।"

"बात क्या है? लड़कों के गुन हैं। दोनों ने रूपया गायब कर दिया। पहले पूछने पर दोनों नकार गए—फिर बाद में दोनों ही कहते हैं कि इन्होंने नहीं लिया है। मैं तो इन लड़कों से हैरान हूँ। ऐसा झूठ बोलते हैं कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं।"

पहले तो बाबू साहब को भी आश्चर्य हुआ, लेकिन फिर जैसे एकाएक कुछ याद आ गया हो—"अरे हाँ? सुना तुमने! मैं एक बात तुमसे कहने को बिलकुल भूल ही गया। मुझे एक रूपया चन्दा में देना था, तुम काम में व्यस्त थीं, मैंने स्वयं अलमारी से ले लिया था।"

बहू जी ने आश्चर्य से पूछा—"अलमारी से ले लिया था।"

"हाँ! कहीं वही तो रुपया नहीं है।"

"मैं क्या जानूँ! फिर होगा।" उनकी आवाज़ में पश्चाताप और मुख पर लज्जा थी।

बाबू साहब ने जाकर जल्दी से कोठरी का दरवाज़ा खोल दिया। किरण सिसकियों में कह रहा था—"पिता जी। सच मैंने रुपया नहीं लिया।" वह पिता से लिपट गया।

चन्दर ने भी आँसू भरी आँखों से हिचकी लेते हुए बाबू साहब को करुणा से देखा, जैसे कह रहा है—'मैंने ही कहाँ लिया है पिता जी।' उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बाबू साहब ने कहा—"तुमने नहीं? रूपया तो मैंने ही लिया है।" उसी समय बहू जी ने आकर चन्दर को चिपटा लिया और आर्द्र स्वर में कहा—"माफ़ कर बेटा! तू मेरे किरण से भी बढ़कर है!" पिता को छोड़ कर किरण भी माँ से लिपट गया और कहने लगा—"नहीं माँ! चन्दर का नहीं मेरा

प्यार कर।"

बहू जी की आँखों में स्नेह के आँसू थे, वे दोनों का प्यार कर रही थीं, और बाबू साहब की आँखों में प्रसन्नता का उल्लास था।

कल्पना की छाया में

(स्था०—विद्यालय,
सी० वाई० रोड-प्रयाग)

(काल—मार्च-अप्रिल ४७ ई०)

१

३ फ़रवरी ४६ ई०
क० रो० १४

सलिल भाभी,

मंगल को तुम्हारा पत्र मिला था, पर उत्तर देने में देर हो गई। मैं क्षमा माँगता! और उदारता प्रदर्शन का एक अवसर भी तुम्हें मिलता। परन्तु देखता हूँ दोष सारा मेरा ही हो ऐसा नहीं है। लगता है आजकल गृहस्थी से कुछ अधिक फ़ुरसत रहती है—नहीं तो मुझ अकिंचन पर काग़ज़ और स्याही की ऐसी उदारता कम होती थी। 'उधर घर के जंजालों से ही छुट्टी नहीं मिलती थी' फिर एकाएक मेरे जंजालों के प्रति आग्रह कैसे बढ़ गया? और वह आग्रह भी साधारण नहीं—बिलकुल दार्शनिक रूप में। भाभी, देखता हूँ तुम्हारा विद्यार्थी मन ही जग उठा है—और जैसे मेरे माध्यम से अपनी पिछली पढ़ाई दुहरा लेना चाहता हो। बात ठीक है—पर पात्र का चुनाव ठीक नहीं हुआ। तुम जानती हो दर्शन से मैं दूर रहा हूँ और साहित्य भी परीक्षाओं के लिए पढ़ना था—इसी लिए पढ़ा है। अनूप भाई को

चुनतीं तो कुछ बात थी—दर्शन नहीं तो साहित्य में उनकी पहुँच गहरी है—यह तो मानती हो। अब जब बात मुझ पर ही आ पड़ी है—तो उत्तर भी देना ही है। फिर यदि तुम्हारी दार्शनिक मीमांसाओं के लिए काग़ज़-स्याही जुटाने में ही मुझे देर हो गई—तो मेरा दोष कैसे हुआ।

एक प्रश्न मेरे सामने बार बार आया है और मैंने उसका उत्तर नहीं दिया। मैं उत्तर देना ही नहीं चाहता था, ऐसा तो नहीं, पर मेरे पास कोई उत्तर था भी नहीं। तुम जानना चाहती हो—'मैं विवाह से इंकार क्यों करता हूँ?' प्रश्न सरल है और सीधा भी, साथ ही समाज के प्रचलन के अनुसार स्वाभाविक भी माना जाता है। पर बात बिलकुल ऐसी ही है, मैं नहीं मान पाता। भाभी तुम स्वयं भी मानती हो—'मैं साहित्यिक और दार्शनिक न होकर भी संवेदनशील और चिंतनशील हूँ।' चिंतनशील होने का यह अर्थ तो नहीं है कि व्यक्ति समाज से अलग ही कोई मान्यता स्वीकार करके चले। पर जब समाज की स्वीकृतियाँ जीवन के सहज और स्वाभाविक को बाँधने लगती हैं, उस समय चिंतन की धारा उलटी लगना संभव है। 'जो है' उससे इंकार नहीं करूँगा, पर 'जो नहीं है' उसे स्वीकार करके भी नहीं चल सकूँगा। विवाह का प्रश्न मेरे सामने उठा नहीं फिर उससे इंकार की बात क्या! कहोगी—ऐसी तो बात नहीं है। हाँ ठीक है? दुनिया के हिसाब से—प्रश्न उठा—प्रसंग आया और मैंने इंकार भी किया। मैं मानता हूँ भाभी। लेकिन दुनिया में रह कर भी मैं दुनिया से बिलकुल एक हूँ—ऐसा तो लगता नहीं। फिर अपने से इंकार करके कोई चलेगा कैसे। दुनिया कह सकती है—उसका अपना कहने का ढंग है और अपनी बात मनवाने का भी उसका अपना ढंग है। तुम कहोगी—'भइया! दुनिया को मान कर ही चलना होता है।' माना। लेकिन यदि एक दिन दुनिया कहे कि 'हमारा' संबंध उसकी स्वीकृति के विरुद्ध है? मैं समझता हूँ तुम कहोगी—'वाह ऐसा भी कहीं होता

है—और फिर जब तक तुम्हारे भइया कुछ न कहें।" ठीक है भाभी। पर यह संसार है वह अपनी मान्यता की बात ही सोच पाता है—ऐसा होता है या हो सकता है, पर वह विचार नहीं करेगा। रही कहने की बात, वह कब क्या नहीं कह सकता। फिर यदि भइया को लेकर ही सब कुछ है, तो भइया भी हम सब की तरह दुनिया के ही व्यक्ति हैं। मान लो उन्होंने भी दुनिया की मान्यता स्वीकार कर ली। तुम कहोगी—'भइया पर मुझे विश्वास है—और फिर यदि उन्होंने ही कह दिया तो चल भी नहीं सकता। कुछ मान कर तो आदमी चलेगा ही।' चलेगा भाभी! सीमित मनुष्य सीमाएँ मान कर ही चल भी सकेगा। हमको कुछ मान कर तो चलना होगा। पर वह 'कुछ' होगी कौन सी सीमा? यही तो प्रश्न है। यही तो स्थल है जहाँ दुनिया में रह कर भी अपने आप से 'न' नहीं कह पाता। साधारणतः लोग दुनिया मान कर चलते हैं—सुभाता ही हो ऐसा नहीं—वरन उसमें लाभ भी है। और दुनिया का मत क्या है—उसकी परंपरागत मान्यता क्या है? यह मान्यता समाज के कुछ शक्तिशालियों की सुविधा और अवसर को ध्यान में रख कर ही चलती आई है—और उनके लाभ को अक्षुण्ण रखने का साधन भी रही है। साधारण व्यक्ति इससे आतंकित और शासित चलता जाता है—सिर झुकाए। और मान्यता की ये सीमाएँ हैं भी इसी वर्ग के लिए—सचमुच उनका लाभ भी इसी में है। मैं भावुक हूँ। साथ ही चिंतनशील भी! लगता है इसीलिए सोचता हूँ—हमारी मान्यता की सीमा क्या होगी? तुम कहती हो—'भइया के आक्षेप करने पर 'हमारा' संबंध टूट ही जाना चाहिए।' और हाँ? मैंने कहा कि भइया भी दुनिया में हैं और उनकी मान्यता भी दुनिया की मान्यता है। इस प्रकार तुम्हारी मान्यता दुनिया को स्वीकार करके ही चलती है। लेकिन मान्यता है, इसीलिए सत्य भी हो ऐसा तो नहीं है। हमारा संबंध हमको तुमको लेकर ही है। और जब है तब केवल

इंकार करने से नहीं रहेगा—यह कैसे। फिर इस संबंध में किसी के कहने भर से अन्तर कैसे पड़ सकेगा ? दो की स्वीकृति तीसरे की मान्यता को लेकर अस्वीकृति कैसे हो जायगी ? कहा जा सकता है कि इन बातों के पीछे भले बुरे का सवाल जो छिपा है—बिना किसी बाहरी मान्यता के उसका क्या होगा ? लेकिन फिर हुआ क्या ? हमको लेकर हमारा संबंध है—दुनिया के कहने से हम उससे इंकार कर सकते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ ? केवल 'न' कह देने से जो है वह मिट कैसे गया—संबंध जैसा भी हो—वह तो रहा ही। यह तो केवल दुनिया को समझाने के लिए) अपने, को—अपनी मान्यता को अस्वीकार करना हुआ। छिपाना असत्य है—फिर असत्य की मान्यता को स्वीकार ही क्यों किया जाय।

मैं मानता हूँ कि व्यक्ति को कुछ सीमाएँ बनानी होंगी। और मैं कहता हूँ कि अपने से इंकार कर के चला नहीं जा सकता। दुनिया को मानने में—उसके रास्ते पर चलने में अपने को अस्वीकार करना पड़ता है—यही सब से बड़ा असत्य है। जब अपने को स्वीकार करना ही सत्य है, तो उसी की मान्यता क्यों न समझी जाय। और मैं तो समझता हूँ अपनी मान्यता को स्वीकार करना ही स्वाभाविक और सहज सत्य है। हाँ ! तो बात विवाह को लेकर चल रही थी। दुनिया के हिसाब से जो हुआ—वह मेरे हिसाब से नहीं हुआ। इसीलिए मैंने कहा कि 'जो है' उससे इंकार नहीं करूँगा और 'जो नहीं है' उसे स्वीकार भी कैसे किया जाय। विवाह का जो रूप या प्रश्न मेरे सामने आया है—वह सांसारिक मान्यता है—जिसे मैं स्वीकार नहीं करता, और जिसे मानने को तैयार नहीं उसके लिए 'हाँ' भी नहीं कहूँगा।

* *

भाभी इधर अपने काम को समाप्त करने की जल्दी थी, बीच में एक काम और बढ़ गया है। देखता हूँ टालने पर भी बच नहीं सकूँगा। हमारे विभाग के डा० शर्मा को तो जानती हो, उन्होंने एक

पढ़ाने का काम स्वीकार करने के लिए बाध्य सा कर दिया है। उनके एक परम मित्र रईस अच्छे बड़े आदमी हैं, उन्हीं की सुपुत्री ने Titerelus ले रखा है—पढ़ाई लिखाई कुछ की नहीं है। अब परीक्षा के केवल दो मास रह गए हैं तो फ़ेल होने का भय हो रहा है। और भाभी उसी की सहायता करनी है। इस प्रकार संध्या और रात की पढ़ाई तो यों गई।

*   *

हाँ भाभी! एक बात तुम्हें और बतानी है। मेरी खोज का काल जानती हो—पुष्पमित्रों तक है। इधर कुछ लेखों में और कुछ बाद के कवियों की प्रशस्तियों में पुष्पमित्रों से विद्रोह करने वाले किसी दुर्दण्ड निर्वासित राजकुमार का उल्लेख मिला है। अपने पिता की हत्या करने वाले पुष्पमित्रों से जीवन-पर्यंत विद्रोह करनेवाला यह कौन अज्ञात राजकुमार था? जिसकी प्रशंसा ही पुष्पमित्रों की प्रशस्तियों में अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है, जिसका दुर्धर्ष यौधप विद्रोही रूप ही पुष्पमित्र कालीन ताम्र लेखों में अधिक व्यक्त है। फिर भी यह निर्वासित राजकुमार अज्ञात है।

*   *

अच्छा भाभी! बहुत हुआ। अनूप भाई को क्या लिखूँ, उनका हिस्सा तो तुम्हीं ने चुका लिया। भइया तो प्रसन्न ही होंगे—क्योंकि उन्हें तो सभी वस्तु तुम्हारे माध्यम से लेनी और देनी अच्छी लगती है। इस सारे पचड़े में मैं बच्चों को तो भूल ही गया। अरुणाभ को प्यार और किंजलिका को चुम्बन। तुम दोनों को प्यार।

प्यार की प्रतीक्षा में
मयंक

२

१६ फ़रवरी ४६ ई०
क० रो० १४

सलिल भाभी,

परसों पत्र मिला। प्रसन्नता कम हुई हो ऐसा तो नहीं, पर चिन्ता

भी कम नहीं हुई। सोचता हूँ इन सब प्रश्नों का उत्तर दे कैसे सकूँगा—और दे भी सका तो तुम्हारे तर्कों को मान्य होगा—इसमें सन्देह है। क्या कारण है कि इधर कुछ समय से अनूप भाई मौन हैं। मैं देखता हूँ उनको अपने काम से ही अब कम छुट्टी मिलती है। परन्तु ऐसा भी क्या काम जो व्यक्ति को उसके सम्बन्धों से अलग करके अकेला एकाकी कर दे। भाभी! तुम जानती हो कि मेरे पास कुछ कम काम नहीं है—पर मुझे लगता है आदमी काम की कठोरता के साथ भी अकेला जीता कैसे है! पर कहीं उनके मौन में भी कुछ रहस्य तो नहीं है? मैं विद्यार्थी जीवन से देखता आया हूँ कि भइया की रहस्यमयी मुसकान उनके विरोधियों को सदा मौन कर देती थी। उस अजेय छलना का अनुभव तो तुम्हें भी होगा—है न भाभी! लेकिन रहस्यमय मौन! लगता है उसने तुम्हारे तर्क से सुलह करके मुझे परास्त करने की ठान ली है। यह भी मुझे स्वीकार है—पर भइया से कह देना—यह धर्म-युद्ध के विरुद्ध है।

लिखती हो 'यदि दुनिया की मान्यता मानता नहीं हूँ तो मेरी अपनी मान्यता है क्या? केवल अपनी कहने से ही मान्यता हो जाती है, ऐसा तो होता नहीं' फिर आगे पूछती हो कि 'मेरी अपनी विवाह विषयक मान्यता है क्या? लड़की के रूप-रंग और उसकी विद्या-बुद्धि सम्बन्धी मेरा आदर्श क्या है?' देखिए भाभी! मैं कहता हूँ मान्यता चाहना नहीं है। जानती हो जो हम चाहते हैं वही दुनिया की मान्यता नहीं होती। फिर मेरी मान्यता कैसे हो सकेगी। मान्यता तो मैं अपनी स्वीकारोक्ति मानता हूँ। मैं जो चाहता हूँ उसे मैं स्वीकार करता हूँ और उस सीमा तक वह मेरी मान्यता भी है। लेकिन अपनी इच्छा, अपनी चाहना के साथ दूसरों की इच्छा को अस्वीकार भी नहीं कर पाता—और इसलिए वह भी मेरी मान्यता का रूप है। भाभी! तुम मेरी मान्यता के माध्यम से मेरी चाहना ही पूछना चाहती हो। लेकिन मेरी चाहना है, इसीलिये दूसरे की चाहना का

प्रश्न नहीं उठेगा—यह कैसे ?

हाँ ? विवाह को लेकर रूप-गुण की बात उठी थी। और यह मेरे मन की बहुत बड़ी रोक है। तुम लड़की के बारे में पूछती हो और ऐसा नहीं है कि इस बात को लेकर मैं सोचता ही न हूँ। लेकिन उसके पहले अपनी बात को भी तो सोचना पड़ता है। जब मेरी पसन्द के साथ किसी एक दूसरे व्यक्ति की पसंद का प्रश्न भी मिला हुआ है, मैं अपनी पसंद की मान्यता को सब कुछ कैसे मान लूँ। दुनिया को लेकर जो बात तुम कहती हो, उसमें यही तो सुविधा है, वहाँ अपनी पसंद को मान लेने से ही चल जाता है। और यहीं मेरी अपनी कठिनाई भी है। मेरी मान्यता में आता है...कोई मुझे पसन्द करे और साथ ही aristrocrate हो। तुम्हारे ही शब्दों में मेरा मन अब भी aristrocrate है। प्रश्न यही सबसे अधिक कठिन है। जिस की कोई रुचि ही नहीं—जिसकी रुचि का कोई आदर्श ही नहीं—उसके पसंद करने को मैं मानकर चल नहीं सकूँगा। और रुचि से, रुचि के आदर्श से मुझे पसंद किया जा सकता है ऐसा मान नहीं पाता हूँ। सच मानिए भाभी ! अपने आप को मैं भी पसन्द नहीं करता हूँ। जब कभी तिरछे कोण से दीवाल पर टँगे हुए बड़े शीशे पर दृष्टि अपने आप पड़ जाती है...तो उलझे सूखे बालों से ढँका हुआ मस्तक...गहराई में डूबी हुई थकी सी आँखें...पिचके से सूखे गाल... और लम्बी सी बेतुकी नाक...यह सब देखकर जैसे जी वितृष्णा से भर उठता है। और लगता है जैसे कोई अतृप्त प्रेत अँधेरे में समा गया हो। जानता हूँ, तुम बिगड़ोगी भाभी...लेकिन अपने को अस्वीकार कैसे करूँ—और करने से भारी अन्याय की संभावना है। अनूप भाई के तर्क से तो परिचित हूँ—ले देकर तुम्हारी ही बात उन्हें सूझती है। वे सभी कुछ तुम्हीं में देख लेना चाहते हैं और तुम हो कि सभी कुछ उन्हीं में पा लेना चाहती हो। हाँ ! तो वे कहेंगे... "और अपनी भाभी को ही देख लो...मेरे रूप और

उनके रूप की तुलना कर लो।" लेकिन भाभी! मैं तुम्हारी बात नहीं चलाता—चलाने से लाभ भी नहीं। क्योंकि तुम दो तो हो नहीं—और जो हो भइया को मानकर ही हो। लेकिन भाभी! तुम्हारी बात भी निराली है, मैंने कई बार सुना है तुम्हें कहते—"अरे गोरा—सफ़ेद रंग भी क्या कोई रंग है, गेहुँआँ रंग की सुन्दरता कुछ और ही है—और फैली फैली वेडौल कोई आँखें हैं।" मैं समझता हूँ—और तुम्हें दुनिया का एक आश्चर्य्य ही मानता हूँ। कितनी सरलता से प्रचलित सौन्दर्य्य के concept के विरोध में मत दे दिया गया है। लेकिन यदि मैं कहूँ—'भाभी! अनूप भइया के सौन्दर्य्य की प्रशंसा ही करना है तो व्याजोक्ति क्यों?' उस समय चट से उत्तर भी मिलेगा—'वाह! जैसे मैं तुम्हारे भइया की भाट हूँ। मेरी हमेशा से अपनी रुचि है।" कहती हो तो स्वीकार भी कर लेता हूँ। लेकिन भाभी! इस रुचि के आदर्श से मेरी समस्या तो हल होती नहीं। तुम कह सकती हो भारतीय नारी को समझने में मैं भूल करता हूँ, वह रूप पर नहीं जाती। तो सच बात यह है कि तुम्हारी जैसी भारतीय नारी कोई और भी हो सकती है—इसका मुझे विश्वास नहीं है। और संभव मान भी लूँ—तो इतना बड़ा अन्याय मैं अपनी ओर से नहीं कर सकूँगा। भइया के रूप के concept तक कोई बात भी थी—पर यदि कहीं मेरे रूप के concept के आधार पर सौन्दर्य्य-शास्त्र का सृजन हुआ तो पूर्व और पश्चिम के सौन्दर्य्य-शास्त्रियों का जो शाप मुझ पर पड़ेगा—वह मेरे लिए असह्य होगा।

एक बात और है भाभी! दुनिया की मान्यता के बिना भी चला जा सकता है, पर उसकी आवश्यकताओं का क्या होगा? मान्यता तो अपनी भी मानकर चला जा सकता है, पर दुनिया की जरूरतें ही तो अपनी बनी हुई हैं। फिर उनका कोई क्या करेगा? मैं देखता हूँ तुम इस बात को मानोगी नहीं। तुम्हारा कहना है 'फिर इतनी

खोज—खुदाई हो क्यों रही है—इस सब के बाद क्या दो व्यक्ति का काम भी नहीं चलेगा।' बात ठीक है, इतनी सब पढ़ाई लिखाई के बाद इतना तो होगा ही...लोग ऐसे ही सोचते हैं। और तुम्हारे आशीर्वाद से भाभी! इन हाथों की शक्ति भी ऐसी कम नहीं हैं कि पढ़ने-लिखने को लेकर ही सब कुछ समझ लिया जाय। लेकिन प्रश्न है वही काम चलने का। मुझे ऐसा लगता रहा है कि रूपए का इतना आकर्षण मेरे लिए नहीं रहा है जब वह जीवन के आगे दिखाई देने लगता है। और इससे रूपया मेरी मान्यता नहीं है, और उसकी सीमाओं को मैं कभी भी अस्वीकार कर सकता हूँ। पर देखता हूँ दुनिया मेरे इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है, वह हिसाव-किताव लगाकर ही चलती है। फिर कैसे होगा भाभी! मैं अपनी मान्यता का बोझ किसी पर लादूँगा नहीं और किसी की मान्यता को लेकर चल भी नहीं सकूँगा।

*　　　　　　*

तुमने लिखा है कि इस पढ़ाई के काम को लेकर भइया अप्रसन्न हुए—और देखता हूँ तुम्हारा आक्रोश भी कम नहीं है। मुझे इस काम से चिढ़ थी और अब भी है, इस काम को अपमानजनक भी समझता रहा हूँ। और यह भी ठीक है कि यदि भइया से सहायता लेने में संकोच भी करूँ, तुम्हारा रुपया लेने में मुझे संकोच करने की आवश्यकता नहीं। हाँ ठीक तो है, भइया के तीन सौ में एक अच्छा भाग गाँव चला जाता है—फिर घर का खर्चा और अपनी degity परन्तु, यह सब कुछ ऐसा है नहीं। पढ़ाई का काम तो विवश होकर स्वीकार करना पड़ा है—पंडित जी की बात कैसे टालता। और अपमान का तो प्रश्न ही नहीं है—यह tution जैसी कोई चीज़ तो है नहीं। साथ ही वे महाशय (जिनकी लड़की है) सीधे भले आदमी हैं। रही उनकी लड़की—उनको अपने Covrse समाप्त करने की पड़ी है और मुझे समाप्त करवाने की जल्दी है। लेकिन मुझे भाभी एक बात

की प्रसन्नता हुई कि कम से कम एक जगह तो आप अपने को भइया से अलग समझ सकीं।

* *

भाभी ! तुमने लिखा है कि अज्ञात राजकुमार के जीवन में कोई नारी अवश्य होगी। लगता है विद्रोही मौर्य्य राजकुमार के प्रति तुम्हारी सहानुभूति कम नहीं है। भाभी आश्चर्य है—एक उल्लेख के अनुसार वह कवि भी है। तुम्हारा कहना है कि उसके जीवन में कोई नारी अवश्य होगी, और उसी की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कल्पना ने इस दुर्दान्त वीर को पुष्पमित्रों के विरुद्ध सफल नहीं होने दिया। देखता हूँ आजकल पुरुष के जीवन में नारी के विषय में तुम्हारा मन आग्रहशील हो उठा है। भाभी तुम्हारी आज्ञा है—कि मम्मट, जल्हण, मयूर, केयूर आदि किसी भी कवि के काव्य से—अथवा किसी न किसी शिलालेख या ताम्रलेख से मुझे यह खोज निकालना ही है। नहीं तो इस योधा की खोज अधूरी ही है। कभी-कभी तो बच्चों जैसी ही बात करती हो, भाभी ! जिसने वीरता के प्रतिफल में असफलता ही पाई हो—जिसने निराशा का एकान्त जीवन व्यतीत किया हो—ऐसे निर्वासित राजकुमार का वर्णन राजाओं का यशगान करनेवाले कवि भला करेंगे ! और उसके जीवन का उल्लेख शिलालेखों या ताम्रलेखों में मिलेगा !

* *

भइया के मौन का उत्तर ही क्या दूँ ? सोचता हूँ मौन का उत्तर मौन ही ठीक है। फिर जिस माध्यम से देते हैं इसी से स्वीकार भी करेंगे। अरुणाभ और किंजलिका को प्यार और चुम्बन। भइया और भाभी तुमको मेरा प्यार। विदा।

तुम्हारा प्यार का ही
मयंक

३

२८ फ़रवरी ४६ ई०
क० रो० १४

सलिल भाभी,

पत्र मिला। किंजलिका बीमार थी और तुमने ख़बर भी न की—बड़ी निष्ठुर हो। बीमारी में वह मुझे याद करती थी और तुम्हें मेरी पढ़ाई-लिखाई की चिंता थी; क्या सोचती हो इस पढ़ाई-लिखाई से मुझे कभी छुट्टी भी मिलनी है। इन्हीं बातों से मुझे आश्चर्य होता है—देखने में कोमल होकर भी कितनी कठोर हो। हम लोग कहा करते थे (भइया भी) कि दर्शन की पढ़ाई बेकार होती है; लेकिन मालूम होता है बिलकुल ऐसी ही बात नहीं है। देखता हूँ दर्शन की इतनी ऊँची पढ़ाई के बाद तुमको हानि-लाभ की तौल तो पक्की ही आती है। किंजलिका को चुंबन, उससे कहिएगा कि मैं शीघ्र ही आने का प्रयास करूँगा और उसके लिए खिलौने लाऊँगा। अरुणाभ को प्यार उसके लिए रंगीन चित्रोंवाली पुस्तकें लाऊँगा।

इस बार भाभी! तुमने विवाह के साथ प्रेम की समस्या प्रस्तुत की है। तुम कहती हो 'जिन मान्यताओं की बात लेकर मैं चला हूँ वे विवाह को प्रेम में परिवर्तित करती हैं।' और साथ ही यह भी कहती हो कि 'मैं प्रेम के प्रश्न से भागना चाहता हूँ।' हाँ! हो सकता है कि प्रश्न से मैं भागना चाहता होऊँ। परंतु कोई व्यक्ति प्रेम और स्त्री से भागता हो—ऐसा तो मैं नहीं सोच पाता। पुरुष है और स्त्री का विचार लेकर है। लेकिन विचार इच्छा और आकाँक्षा हो सकता है पर प्राप्ति नहीं 'मान लिया विवाह है या प्रेम—लेकिन चाहने से ही कोई चीज़ मिल जाती हो' ऐसा तो नहीं—फिर उस चाह को लेकर शोर क्यों मचाया जाय—ढिंढोरा क्यों पीटा जाय। मैं मौन रह सकता हूँ—चुपचाप जीवन के रास्ते पर चलता जा सकता हूँ—पर कहने पर अपने विश्वास को, अपने को छिपाऊँगा नहीं। हाँ कहने की बात जिससे कही

जा सकती है उसी से कहूँगा। तुम कहती हो भाभी 'वैसे मैं जीवन में जिस मार्ग पर चलता हूँ—वहाँ विवाह का समझौता स्वीकार करके चला जा सकता है; पर साथ ही मैं अन्तर्मन से—जो aristrocrate है—शक्ति चाहता हूँ और आत्म समर्पण चाहता हूँ—और यहाँ विवाह से पहले प्रेम की बात उठती है।' और तुम्हारे मत से विवाह हो—चाहें प्रेम स्त्री चाहती यही है। भाभी अपने अन्तर्मन की बात मैं नहीं जानता, लेकिन यह भी कैसे कहूँ कि तुम्हारी बात ग़लत है। पर यह मान कर मैं चल नहीं सकता। 'शक्ति की आकाँक्षा और उसके सामने समर्पण, दुनिया की इस पुरानी मान्यता के आगे हमको बढ़ना ही होगा। मानव बढ़ता आया है—तो बढ़ता ही चले। मैं मानता हूँ, पिछले संस्कारों से अलग ही हो जाय—ऐसा नहीं होगा; फिर भी उसका क़दम आगे ही होना चाहिए। और यह ही कैसे माना जा सकता है कि उसकी पहली प्रवृत्तियों में उसके आगे के विकास का स्रोत छिपा नहीं है। सशक्त पुरुष का पौरुष किसी नारी के आत्म-सम्पर्ण का बंदी हो जाय; और नारी का आकर्षण उसी के समपर्ण में घिर उठे—जीवन में मुझे न तो यह अधिक दूर तक स्वाभाविक ही लगता है और न स्वस्थ ही। मैं तो दोनों को समान धरातल पर ही मानकर चलता हूँ। पुरुष की शारीरिक शक्ति ही सब कुछ है; स्त्री का शारीरिक सौन्दर्य ही बस है—ऐसा तो नहीं है। अब तो शक्ति शारीरिक से मानसिक भी स्वीकार की जाती है—सौन्दर्य रूप के आगे भावना से भी संबंधित माना जाता है। फिर पुरुष ही सशक्त क्यों? नारी का आकर्षण उसकी क्रिया-शक्ति है, ऐसा कैसे? पुरुष का आकर्षण भी नारी की क्रिया-शक्ति क्यों न स्वीकार किया जाय। ऐसा ही क्यों माना जाय कि स्त्री में क्रिया-शक्ति है ही नहीं, पुरुष को छोड़कर उसके पास करने जैसा कुछ है ही नहीं। मैं तो इन चली-आती परम्पराओं को दुनिया की उन्हीं मान्यताओं में मानता हूँ—जिनमें जीवन का भ्रम है! धोखा है!! लगता है इसी को लेकर

पुरुष की लोपुलुपता, उसका स्वार्थ बढ़ गया है और नारियों पर युगों से अत्याचार होता आया है। और इसी मान्यता से स्त्री ने अपने पीड़न के साथ झूठी आदर्श-भावना जोड़कर अपना अहंकार बढ़ा लिया है। पर जिस प्रकार नारी के आत्म-समपर्ण की गाथा-पुरुष का असत्य है; उसी प्रकार नारी की अहंकार-भावना भी मिथ्या है। पुरुष आकर्षित होता है, स्त्री भी आकर्षित हो सकती है; पुरुष को नारी से शक्ति मिलती है, गति मिलती है, नारी को भी पुरुष से प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। स्त्री आत्म-समर्पण करती है पुरुष को भी समर्पण देना ही चाहिए। 'चाहिए' इसलिए कि मेरी यह मान्यता दुनिया के विरुद्ध है। और यदि पुरुष का आत्मसमर्पण एक सीमा के बाद असत्य है, तो नारी का एकान्त-समर्पण भी अस्वाभाविक है।

जैसा कुछ हो भाभी! तुम कहती हो कि 'मैं स्वभावतः विवाह के साथ समझौता करके ही रह सकता हूँ।' लेकिन फिर अन्तर्मन की बात भी तुम्हीं नहीं भूलना चाहती हो। मैं अन्दर-बाहर की बात तो समझता बहुत कम हूँ। पर यदि विवाह एक सम है—दो व्यक्तियों की मान्यताओं का सामञ्जस्य है—दो रुचियों की व्यवस्था है, तब तो मुझे स्वीकार है। पर 'विवाह है' और इसीलिए सब कुछ हो जायगा—विवाह विधि के अनुसार हुआ है और इसीलिए जीवन की एक बड़ी मान्यता बन जायगा—यह मैं स्वीकार नहीं कर पाता। और यहीं तुम अन्तर्मन की बात लेकर कहोगी—' "यही तो मैं कहती हूँ, तुम ऊपर ऊपर से चाहें जैसे चलते हो लेकिन तुम्हारा अन्तर्मन प्रेम की आकुलता का, उसके समर्पण का आग्रही है।" तुम्हारे इस सब ज्ञान और अध्ययन के विरोध में मैं कैसे कुछ कहूँ, पर लगता है यह सब कुछ नहीं है। यदि है ही, तो मेरे न कहने से ही नहीं रहेगा—यह भी कैसे स्वीकार किया जा सकता है। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ जहाँ जीवन में सम नहीं, मान्यताओं का सामञ्जस्य नहीं और रुचियों का समन्वय नहीं है—वह 'विवाह' मैं स्वीकार नहीं कर सकूँगा।

और प्रेम ! तुम कहती हो मैं अपने जीवन के प्रारम्भ से ही समाज के ऊँचे मध्यवर्ग का व्यक्ति रहा हूँ और साथ ही निम्नमध्यवर्ग से अपने आप संबंधित रहकर उनकी संवेदनाओं को भी मैं ने प्राप्त किया है—और इन संस्कारों को आज भी अपने अन्तर्मन से नहीं छोड़ सका हूँ। और इसीलिए तुम्हारे कहने के अनुसार मेरे मन में प्रेम के आवेग और उत्सर्ग के प्रति विशेष आकर्षण है; जब कि बाहर का व्यवस्थित जीवन संबंधों की स्थिरता से उत्पन्न प्रेम पर ही विश्वास करता है। मैं स्वीकार करता हूँ भाभी कि तुम्हारी बात मैं बिलकुल ठीक-ठीक नहीं समझ सका। पर इतना समझता हूँ संबंधों की स्थिरता ही विवाह का प्रेम है। फिर यदि सम्पर्क और स्थिरता ही प्रेम है—तो विवाह से ही उसका क्यों संबंध है ! उस प्रेम की मान्यता सम्पर्क की सीमा हुई, न कि विवाह की स्वीकृति मात्र। रही आवेग और आवेशमय प्रेम की बात, जिसमें किसी को पा लेने की आकांक्षा विकल हो उठती है—और जिसके लिए लोग मर-खप जाते हैं। यह प्रेम पढ़ा है—और सिनेमा में देखा भी है—पर कभी इसे समझ सका हूँ ऐसा नहीं लगता। इस प्रेम की—सिनेमा वाले उपन्यासी प्रेम की तो मैं हँसी ही उड़ाता रहा हूँ और भइया ने भी कम साथ नहीं दिया है। तुम कहोगी—मैं 'प्रेम' को अस्वीकार करके त्याग और उत्सर्ग से 'न' करना चाहता हूँ। नहीं भाभी ! मनुष्य को लेकर यदि त्याग और उत्सर्ग से ही 'न' कर दिया जाय, तो उसमें मनुष्य कहलाने जैसा रहेगा क्या ? इन्हीं से मानव बढ़ सका है। फिर जो प्रेम, त्याग और उत्सर्ग को लेकर है उसको अस्वीकार करना तो अपनी ही 'हाँ' का 'न' करना है। लेकिन जब हमारा त्याग सीमा बाँध कर नहीं चलता, किसी आकर्षण या समर्पण के आग्रह को भी नहीं स्वीकार करता—तब हमारा प्रेम ही क्यों सीमित और संकुचित हो उठता है। एक बात भाभी तुमने भेद की पूँछी है। लेकिन मेरे पास कोई भेद है ही नहीं। रही किसीसे प्रेम करने की बात; मैं कहूँगा मैं प्रेम करता हूँ

लेकिन तुम्हारा यह आरोप ग़लत है कि मैं छिपाता हूँ। और देखता हूँ तुमको बताने से लाभ ही क्या है—बताया तो उसे जाय जो सुने—लेकिन जो सुनकर भी नहीं सुनता—देखकर भी नहीं देखता—उसे बताने से लाभ !

* *

भाभी ! तुमको मेरी नई शिष्या के बारे में कुछ उत्सुकता है—यह एक प्रकार से स्वाभाविक होकर भी महत्वहीन है। वह काम तो अनिच्छा से चला भर जा रहा है—जिसमें क्रिया हो पर इच्छा नहीं। चलते चलते सड़क की किसी घटना पर जैसे दृष्टि पड़ती है—या ट्रेन में बैठे हुए कुछ समय के लिए कम्पार्टमेंट की घटना अपने से संबंधित लगने लगती है—ऐसी ही वह भी एक घटना मात्र है। लेकिन, हाँ ! भाभी मैंने कभी कभी अनजान ही समझा है—जैसे उस लड़की में अहंकार कम नहीं है। एक दिन ईसा और बुद्ध को लेकर भी किसी विषय पर कुछ कहा जा रहा था। और किसी प्रसंग में assertion की बात का भी गम्भीरता के साथ उल्लेख किया गया था। तुम जानती हो—ईसा और बुद्ध को लेकर मेरा विश्वास है...उनको मानवता का अगला कदम भी मानता हूँ। और asserttion—उसको मानव की पशु-प्रवृति ही कहता हूँ। पर मैं अपने विश्वासों को लेकर किसी से बहस नहीं करता—किसी की मान्यता पर अपनी मान्यता लादता नहीं। लेकिन भाभी ! यह लड़की बिलकुल साधारण हो—ऐसा नहीं लगता। जब मैं अपने विश्वासों को पूरे बल से प्रतिपादित करता हूँ, तब तो वह एकाग्र होकर सुनती है; पर जब दूसरों के विश्वासों से समन्वय करता हुआ अपनी ही बात को हलकी कर देता हूँ—तब वह गर्वीली सी, व्यंगात्मक सी होकर धीरे से कह देती है—"ओऽ ! समझी।" लेकिन मैंने भी कहाँ की बात छेड़ दी।

* *

भाभी ! तुम मौर्य-वंश के अंतिम निर्वासित राजकुमार की बात

नहीं भूल सकोगी। और देखता हूँ तुम्हारा आग्रह भी बढ़ता जाता है कि 'उसके युद्धमान जीवन में कविता बनकर आनेवाली नारी ही उसकी असफलता का कारण है।' तुम्हारा आग्रह मेरी कल्पना को भी प्रोत्साहित करता रहता है। मैं देखता हूँ—मौनसार—या ऐसा ही कुछ उसका नाम है क्योंकि जहाँ उसका नाम मिला है स्पष्ट नहीं है—प्रतिहिंसा के भावों से भरा हुआ सौर्य राजकुमार वीरता और शौर्य की प्रतिमा है। उसका व्यक्तित्व भी प्रतिभाशाली है। पुष्यमित्रों के कवियों ने जिसका उल्लेख आतंक से किया है—जिसके विद्रोह से पुष्यमित्रों को १२ वर्ष तक सुख की नींद नहीं आई, रात्रि में सोते सोते चौंक पड़ने पर रानियों से आश्वासित किए जाते थे—वह साधारण योद्धा नहीं था। और तुम कहती हो उसके जीवन में नारी की कल्पना आवश्यक है—वह भी उसकी असफलताओं के लिए। नारी तो सफलता है—वह असफलता का कारण कैसे बन गई; लेकिन ठीक! जो सफलता हो सकती है वही असफलता भी बन सकती है। मैं भी उत्सुक रहा हूँ। पर भाभी! खोज-विभाग की बड़ी-बड़ी अलमारियों और रेकों में—ऊँची विशाल पत्थर की अट्टालिका में अबाधगति से चलनेवाले बिजली के पंखे की हवा में किसी भी ओर से नारी की कल्पना का प्रवेश नहीं हो सका और विद्रोही राजकुमार के जीवन में नारी की कल्पना नहीं जुड़ सकी। सामने फैले हुए प्राचीन लेखों के फ़ोटो-चित्रों तथा हस्तलिपियों पर दृष्टि डालते डालते राजकुमार के जीवन में नारी की बात याद आ जाती है और मन पुस्तकों की गंध से भर जाता है...बस! मन विकल हो जाता है; पुस्तकों की उमड़ती हुई गंध से अरुचि हो जाती है...अनमना होकर खिड़की के बाहर नीचे की ओर दूर पर ढालू चली गई सड़क को देखने लगता हूँ। पतझड़ का पवन झूम झूम कर पेड़ों से पुराने पत्तों की वर्षा कर रहा है—शिरीष, पीपल, बरगद सभी अपने पत्तों को झाड़कर धीरे धीरे नए पत्ते धारण कर रहे हैं। खिड़की से हवा का एक झोंका आकर शरीर को ही नहीं

प्राणों को भी जैसे आन्दोलित कर जाता है। मैं सोचता हूँ—इसी सामनेवाली ढालू सड़क से ही रोज़ आना जाना पड़ता है। फिर निर्वासित राजकुमार की बात मन को भर लेती है। देखता हूँ—पतझड़ के गिरते हुए पत्तों के बीच में—गम्भीर राजकुमार खड़ा है और सामने एक नारी है। नारी अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है...गौरवर्ण की, कोमल चिबुक और पतले ओठोंवाली नारी, उसकी बड़ी आँखों की सघन बरौनियों वाली पलकें उठने गिरने के साथ जैसे अभिमान का अभिनय करती हैं—गरदन की भंगिमा जैसे किंचित वक्र है और गर्व का प्रदर्शन करती है—और समस्त मुख की मुद्रा से आभिजात्य का भाव उमड़ा पड़ता है। नारी प्रत्यक्ष है और राजकुमार उसके सामने खोया खोया खड़ा है—मौन ! म्लान !! स्त्री आधी झपी हुई पलकों में नेत्रों को फेरती हुई, कुछ गरदन झुकाकर—यद्यपि उसमें झुकने का भाव नहीं है—कहती है— "ओऽ समझी तुम्ही हो ! पुष्यमित्रों के सेनापति को परास्त करने वाले राजकुमार।"

* *

अच्छा भाभी विदा ! प्यार।

तुम्हारा अपना ही
'मयंक'

४

१५ मार्च ४६
क० रो० १४

सलिल भाभी,

तुम प्रसन्न हो कि मैं तुम्हारी ही बात पर आ रहा हूँ, और इस प्रकार सीधे रास्ते पर भी आ रहा हूँ। तुम्हारी यही बात तो उचित नहीं लगती। यह तो अन्याय है। मैं तुम्हारी बात नहीं मानूँगा—ऐसा क्यों सोचती हो; और यदि तुम्हारी बात मानना ही सीधा रास्ता है, तब तो बात ही क्या—मेरा भी रास्ता तै हो जायगा। लेकिन जब तुम्हारी जैसी कोई बात ही न हो तो मानने न मानने का

सवाल उठता ही नहीं। तुम्हारा कहना है कि 'मैं दो विरोधी चरित्रों को लेकर चलता हूँ और यही कारण है कि जीवन के किसी दृष्टिकोण तक नहीं पहुँच पाता हूँ।' लेकिन भाभी ! मैं खोजकर भी नहीं पाता कि वह विरोध कहाँ है जिसकी बात तुम बार बार कहती हो। फिर वह विरोध क्या है जिसे मैं प्रयास करके भी नहीं समझ पाता। और यदि विरोध जैसी किसी चीज़ को लेकर ही मैं हूँ, तब तो जब तक मैं हूँ विरोध भी रहेगा ही। तुम कहो और मैं अस्वीकार कर दूँ—पर क्या अस्वीकार कर देने से ही वह नहीं रहेगा; यह कैसी बात है। तुम कहती हो—'aassert करना ही मेरा स्वभाव है—मूलतः मेरे अहं का यही सत्य है—पर मैं उसे रोक कर जिस सम को लाने का प्रयास करता हूँ वह उस इच्छा-शक्ति के प्रवाह को प्रतिक्रियात्मक करके फैला देता है।' भाभी तुमने ऊँची कक्षाओं तक दर्शन पढ़ा है—और मैं हूँ इतिहास का विद्यार्थी। इसीसे कदाचित् सब ठीक ठीक समझ नहीं पाता हूँ—ऐसा लगता है। फिर तुम कहती हो... 'जब मैं प्रेम की बात सोचता हूँ तो विवाह सामने आ जाता है; और जब विवाह की बात पर विचार करता हूँ तो उसे प्रेम से मिला देता हूँ।' मैं तो यही कहूँगा मेरी बातों में तो विरोध हो और न भी हो, पर हमारे तुम्हारे दृष्टिकोण में भेद अवश्य है। जो तुम्हारा मत है वह तुम्हारे अपने विचार से है और मैं समझता हूँ कि वह बहुत कुछ ऐसा इसलिए भी है कि वह दुनिया को लेकर ही है। मैं दुनिया के बँधे-बँधाए ढंग को लेकर नहीं सोचता और वस्तुतः यही मेरे चरित्र का विरोध है। जब विवाह बंधन बनकर ही रहेगा, और प्रेम आवेग के साथ ही स्वीकार किया जायगा—मैं न विवाह मान पाता हूँ और न प्रेम ही। फिर पूछोगी 'आख़िर स्त्री-पुरुष को लेकर मेरी अपनी मान्यता क्या होगी ?' मैं कहता हूँ मेरी अपनी स्वीकारोक्ति ही मेरी मान्यता है। मुझे ऐसा तो नहीं लगता कि एक पुरुष और एक स्त्री के संबंध को लेकर ही प्रश्न निःशेष है। समाज है और उसमें अनेक स्त्री-पुरुष हैं

जो संबंधों से ही स्थित हैं। फिर इन सबको 'न' करके प्रश्न इतना छोटा क्यों हो उठता है। अनेक स्त्री-पुरुष हैं, तो उनके अनेक संबंधों का प्रश्न भी रहेगा ही—फिर जो विशेष सम पर आ सकेंगे, वे अधिक निकट के संबंध में बँध सकेंगे। और संबंध जो व्यक्तियों को लेकर हैं वे किसी बाहरी बन्धन से रुक भी कैसे सकेंगे। शक्ति या आकर्षण से आच्छादित करके किसी के व्यक्तित्व को बौना बना डालना न सहज स्वाभाविक है और न स्वस्थ विकास ही माना जा सकता है।

भाभी! तुम्हारी एक बात का उत्तर मेरे पास नहीं है। तुम लिखती हो—"भाई अभी फँसे नहीं, तभी चहकते हो—नहीं तो समझते। और जो तुम कहते हो रूप बहुत देखा है—तो रूप ही सब कुछ हो ऐसा नहीं है, वह तो एक दृष्टिकोण मात्र है। जीवन में कभी ऐसी भी स्थिति आती है—जब अज्ञात—अप्रत्याशित रूप से व्यक्ति अपने को एक स्थिति से घिरा पाता है।" सचमुच इस बात का उत्तर मेरे पास नहीं है। हँस कर टाल दूँ—ऐसी भी शक्ति मुझमें नहीं है। कभी हँस भी सका हूँ—पर आज लगता है वह ग़लत होगा। हाँ रूप वाली बात जैसे मैं कुछ समझ सका हूँ। एक हँसी की बात बताऊँ भाभी! एक दिन मैं अपने ही रूप पर मुग्ध सा हो गया, और एक बार मैंने लिखा था कि मैं अपने रूप से घृणा करता हूँ। उस दिन सन्ध्या समय बालों में शैम्पू करके स्नान करने के बाद मैं बड़े शीशे के सामने खड़ा था—और धीरे धीरे अँगुलियों से बालों में तेल लगा रहा था। बिजली के प्रकाश में शीशे में देखता हूँ कि प्रतिबिम्ब पर मेरी ही छाया पड़ रही थी—मुख भी कुछ नीचे की ओर झुका हुआ था। पता नहीं किस कोण से मैं देख रहा था...प्रतिबिम्ब में मस्तक पर काले बालों के गुच्छे झुके हुए हैं...छाया में मुख का रंग भी कोमल-स्निग्ध हो उठा है...गालों के गड्ढे भी जैसे बहुत हलके हो गए हैं और आँखें भी सुन्दर हो उठी हैं। मैं अपने आप मुसकरा उठा—और

साथ ही शीशे का मायावी भी एक विशेष आकर्षण से मुसकरा पड़ा। लेकिन भाभी यह तो भ्रम है! माया है। और प्रेम के बारे में मेरा अपना विश्वास यही है कि वह कोई आकस्मिक भाव-स्थिति नहीं—वह तो केवल सहज संबंधों का समुचित विकास है। परन्तु तुम्हारी व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण वाली बात—अज्ञात रूप से अभिभूत करने वाली भावना को, मैं जैसे बिलकुल टाल भी नहीं पा रहा हूँ। भाभी! तुम आशीर्वाद दो—मेरे जीवन में ऐसा कुछ न हो! नहीं तो जानती हो—मुझे लगता है मैं किसी स्थल पर टूट भी जल्दी सकता हूँ... किसी के समाने झुक सकूँ ऐसा कदाचित् संभव नहीं।

* *

हाँ! तुम्हारी पिछली आत्मसमर्पण वाली बात एक बार फिर आगई। उस दिन पढ़ते-पढ़ते बीच में वह लड़की पूछ बैठी—"मास्टर जी! ये पुरुष स्त्रियों के आत्मसमर्पण की बात क्यों इतने मनोयोग से लिखते हैं?" पहले मैंने उत्तर दिया था—"पुरुष ही क्यों! स्त्रियों ने भी अपने आत्मसमर्पण की बात लिखी है।" वह कुछ जैसे हतप्रभ हुई, पर मैंने सुलझाया—"पुरुष स्त्रियों पर अधिकार रखने के ऐसे कुछ आदी हो गए हैं कि उसके आगे कुछ सोचना ही नहीं चाहते।" और वह कह उठी—"ओऽ यही तो मैं समझती हूँ।" भाभी! सच बात है भी यही। पुरुष ने जो युगों से पाया है उसे छोड़ना नहीं चाहता। और यही नहीं—स्त्री भी अपनी प्रशंसा में झूठे सतीत्व की आत्मचेतना लेकर गर्व से पैर रखती है और अपने आकर्षण से पुरुषों को अकर्मण्य बनाती फिरती है। हाँ! उसी लड़की ने तो एक बार प्रश्न किया था—"मास्टर जी! आख़ीर ये लड़के हमको घूरा क्यों करते हैं।" मैंने उत्तर भी दिया था—"लेकिन फिर आप ही लोग क्यों उन्हें अकिंचन कीड़े के समान देखती हुई अकड़ कर सामने से निकल जाती हैं।" इस उत्तर से वह कम चकित नहीं हुई पर मैंने उत्तर पूरा कर दिया—"लेकिन इन लड़कों ने अपना

सम्मान आपही खो दिया है।" और यही है भाभी तुम्हारी दुनिया की बड़ी भारी मान्यता; जिस पर तुम सब को बड़ा अहंकार है। इस झूठी मान्यता को लेकर पुरुष अपने आप शंकित और लोलुप होकर पुरुषार्थ खो रहा है और स्त्री झूठे अहंकार में अपनी कोमलता का दान करने में भी उद्धत है।

*   *

भाभी ! तुमने पूछा है कि निर्वासित कुमार की नारी कल्पना कितनी पूरी हुई। आजकल पुस्तकालय की खिड़की में बैठकर सामने की मेज़ पर फैली हुई पुस्तकों और चारों ओर से घिरे हुए बुकशेल्फों से दूर पतझड़ और वसंत के सम्मिलन में—कुमार की नारी की कल्पना ही चलती है। शिरीष में छोटी-छोटी पत्तियाँ निकलती आ रही हैं—पीपल के लाल-पीले किशलय छाते चले आ रहे हैं और बकुल इस सब के प्रति निरपेक्ष हैं—परन्तु इस वर्ष आम्र-किशलय भी उमड़ पड़े हैं—क्योंकि बौर नहीं आया है—और इस प्रकार काम-शायक का काम इन लालाभ किसलयों से चल रहा है। साथ ही कल्पना भी चल रही है।

ढाल में उतरती हुई सड़क के वृक्षों में राजकुमार एक डाली पकड़े खड़ा है और सामने उसी गर्वीली नारी की कल्पना व्यक्त हो उठी है। उसने धीरे धीरे अपनी भारी पलकों को उठाकर पूछ लिया—"सुना है राजकुमार ! पुष्यमित्रों की सेना पराहत करके भी छोड़ दी गई। फिर सेनापति की कन्या को बन्दी रखने में—।"

राजकुमार के मुख पर स्मित-रेखा है—"कुमारी ! कौन कहता है तुम बन्दिनी हो—मेरे सैनिकों में इतना साहस नहीं कि तुम्हें बन्दिनी रख सकें।"

नारी की गर्दन गर्व से कुछ वक्र हो उठी—"हाँ राजकुमार ! किसी को बन्दी रखने के लिए शक्ति चाहिए—कवित्व नहीं—और वह शक्ति देखती हूँ सैनिकों के मालिक में भी नहीं है।"

राजकुमार मुसकरा उठा— "शक्ति की बात मुझसे न पूछो कुमारी !

उसे सेनापति से पूछने का अवसर मिलेगा और पुष्यमित्रों से भी पूछ लेना। और कवित्व—उसको तो तुम भी समझ सकती हो।" कुमार का स्वर कुछ अधिक कोमल हो उठा।

राजकुमारी कुछ अधिक सीधी हो गई—"ओऽ! ग़लत समझे राजकुमार! नारी कल्पना नहीं है—वह शक्ति है—और उसकी शक्ति पराजित करके ही नहीं रुक जाती—वह आधिपत्य स्थापित करती है और शासन भी चाहती है।

* *

लगता है भाभी! भइया किसी लंबी मौन साधना में लगे हैं। देवि! वरदान देने में ऐसा विलंब क्यों? मैं मौन रह कर उनकी साधना में सहायता ही पहुँचाऊँगा। दोनों बच्चों को प्यार और चुम्बन। भइया और भाभी को मेरा प्यार!

अपनी ही सीमाओं में
'मयंक'

५

४ अप्रैल ४६
क० रो० १४ ई०

सलिल भाभी,

पत्र मिला था। उत्तर में देर हो गई है।

तुम दूसरों के मन की बात जानने का अभ्यास कब से कर रही हो। और जब लिखती हो—तो जैसे कहीं ग़लती कर ही नहीं सकती हो—सब ठीक-ठीक बताती चली जाती हो—कहीं संदेह होता ही नहीं। इस बार भविष्यवाणी की गई है 'मैं टूट नहीं सकता, मैं उस धातु का नहीं जो टूट जाती है।' धातु की बात तो तुम जानो—रासायनिक ठहरीं—मैं यह अवश्य मानता हूँ कि तुम्हारे आशीर्वाद से मैं टूट नहीं सकूँगा। कहती हो 'मैं Aristrocrate हूँ—संवेदन शील हूँ; मैं अपने मन से अहं की छाया भूल नहीं पाता। और यही बात है,

मैं अपनी मान्यता लेकर चलने की बात करता हूँ। यही अहं की छाया दूसरों को ढक लेना चाहती है—आक्रांत कर लेना चाहती है और तभी व्यक्ति की मान्यता सशक्त आकाँक्षा के रूप में दूसरों के व्यक्तित्व, मान्यताओं और आकाँक्षाओं को निगल जाना चाहती है। ऐसी स्थिति में बाहर से गहरी ठेस भी लग सकती है—और वह उस सशक्त-आकाँक्षा वाले व्यक्तित्व को तोड़ भी देती है।' यही तो—ऐसा ही कुछ तुम्हारा कहना है—भाभी। पता नहीं मेरे अन्तर्मन की कितनी गहरी छाया है—पर तुम्हारे व्यक्त शरीर की छाया मानता हूँ सघन अविरल है। उसी छाया में भइया और गृहस्थी को छाए हुए हो—और भइया जैसे उसमें बिलकुल निश्चिंत हो। और भाभी! बरगद जैसी घेरकर छाई हुई तुम्हारी घनी छाया में—यदि कभी बाहर के धूप-पानी से विकल हुआ—तो आशा है मैं भी रक्षा पा सकूँगा। हाँ! तो तुम यही कहती हो कि मैं टूट नहीं सकता। 'मेरे उस अन्तर्मन के ऊपर जो मन है वह चारों ओर से सम स्थापित करता चलता है और यही मेरी अपनी स्वीकृति है। फिर जब अपनी स्वीकृति है—तो दूसरे की भी स्वीकृति है—और इसलिए अपनी मान्यता का आरोप दूसरों पर नहीं होता। फिर इस प्रकार मेरा मन फैल सकता है—किसी पर छा नहीं उठता···किसी को पाना चाहता है—आक्रांत नहीं करता। और इस कारण वह अपने हलकेपन में टूट नहीं सकता।' यह जो बहुत अलग-अलग करके मेरे मन का विश्लेषण तुमने किया है—वह मैं ही नहीं समझ पाता हूँ। बात बिलकुल समझ के परे हो—ऐसा तो नहीं कह सकता। एक बात मैं भी अपने में देखता हूँ—जब मैं अपनी बात पर बल देना चाहता हूँ—तभी दूसरों की बात सोच कर अपनी बात को हलकी कर देता हूँ। और जब कभी दूसरा मेरा विरोध करता है, उस समय मैं इन्कार करना चाहता हूँ—पर मेरा मन सशक्त होकर विद्रोह कर उठता है। लेकिन यह साधारण सी बात है।

यह सब तो हुआ भाभी। पर मेरे मन में आज-कल विचित्र जड़ता छाती जा रही है। सोचता हूँ शरीर कुछ अस्वस्थ है—पर कहीं से कुछ गड़बड़ नहीं मिलती। आख़ीर फिर ऐसा क्यों लगता है। काम करता हूँ—पर जैसे कुछ होता नहीं। उत्साह लाने का प्रयास करता हूँ—पर वह जीवन के किसी कगार से टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाता है। न कोई कष्ट—न कोई पीड़ा और न कोई जलन। फिर यह जड़ता कैसी छाती चली आती है—जैसे चेतना की सारी संज्ञा—प्राणों की सारी शक्ति अपने आप स्थिर होती जाती है।...आसमान के कोने से चुपचाप बादल घिरते चले आते हैं—नहीं कहीं गरजन है और न कहीं उमड़न—बस केवल घेरते चले आते हैं।......अमावस्या का चारों ओर वृक्ष-कुंजों के रूप में घनीभूत हुआ अँधेरा डुबोता चला आता है...न कोई बोझा है न उत्पीड़न—बस डुबोता चला आ रहा है।......पवन गुमसुम—चुपचाप फैला-फैला रुका हुआ है—न पत्तियाँ हिलती हैं और न उमस ही लगती है।...सरिता का प्रवाह रुका-रुका हुआ मौन प्रवाहित है—तरंगें आपस में ही मिल कर जैसे सम हो गई हों।......और कहीं दूर ऊँचे पहाड़ों पर—देवदारु और चीड़ पर हलकी-हलकी बरफ़ ढकती चली जा रही है—न कहीं प्रकोप है और न तूफ़ान ही—हलकी-हलकी बरफ़ पेड़ों को ढकती चली जा रही है बस! पता नहीं यह कौन सा बोझा मुझे चुपचाप छाता जा रहा है। बता सकोगी भाभी—आख़ीर ऐसा होता क्यों है?

* *

हाँ भाभी! मुझे अब संध्या समय की पढ़ाई के काम से छुट्टी मिल गई—सोचता हूँ किसी प्रकार झंझट मिटी। लेकिन भाभी! उस लड़की के बारे में एक बात बता देना चाहता हूँ। मैंने लिखा था—उसमें अभिमान कम नहीं है...लगता है मेरा अनुमान ठीक ही था। उसके बारे में और कुछ जानने की न इच्छा थी—और न जान ही

सका। एक दिन किसी प्रसंग में उसने कहा था—उसे Literature से hate है। तुम जानती ही हो—मैं भी साहित्य का प्रेमी नहीं हूँ—पर बात जिस ढंग से कही गई थी—वह कुछ ठीक नहीं लगी थी। वह बात यों ही समाप्त हो गई। अन्तिम दिन की बात है—मैं अपने सभी साथियों को उनकी परीक्षा के समाप्त होने पर विदा दे चुका था और इस कारण मेरे मन पर सूनापन छा रहा था—जी उचटा हुआ था। मैं खोया-खोया बेमन से पढ़ाता रहा—पढ़ाना क्या! प्रश्न पत्रों का उत्तर देता रहा—दूसरे ही दिन परीक्षा थी। जब बस हो गया; मैंने भारी मन से ही कोच से उठते हुए मुसकरा कर कहा—"आज से तुम्हें घृणा से छुट्टी मिल रही है।" वह कमरे से बाहर जाने के लिए प्रस्तुत हो चुकी थी—मुड़ कर उसने कहा—"Thank God! Somehow I got rid of it ...।" (ईश्वर को धन्यवाद, किसी प्रकार छुटी...) मुझे लगा, जैसे एकाएक किसी ने झकझोर दिया हो और मेरे मन का हलकापन बिलकुल झड़ गया हो। मैं पता नहीं क्यों कह उठा—"लेकिन तुम जानती हो—मैं ईश्वर को मानता ही कब हूँ।" वह जाते-जाते रुक कर एक बार मेरी ओर देखती गई—और मैं कोच से उठ चुका था।...अब मैं उसी ढालू सड़क पर चढ़ रहा था—लग रहा था जैसे कई दिनों की जड़ता टूट गई है और मैं अनमना नहीं हूँ—मेरे मन का हलकापन विलीन हो गया था और पैर भारी नहीं लग रहे थे।

आसमान चुपचाप साफ़ हो गया;......चाँदनी से पेड़ों की अँधियारी हलकी पड़ गई;......पवन धीरे-धीरे पत्तियों और डालियों को हिलाने लगा;......सरिता अपनी तरंगों में प्रवाहित हो उठी; देवदारु और चीड़ की बरफ़ झड़ गई और वे दूर पहाड़ों पर झीमने लगे। यह सब कुछ ही क्षणों में हो गया—पर अब भी मन में न तो आकाश का विस्तार—न तरंग की ऊँचाई...न प्रकाश की चमक और न देवदारु, चीड़ का मस्त झीमना।......केवल जैसे चेतना

चुपचाप जड़ से प्रवाहित हो उठी हो। मैं धीरे-धीरे लौट रहा था।

❀ ❀

और भाभी! देखता हूँ, हमारे निर्वासित राजकुमार की नारी-कल्पना भी अधूरी रह गई—वह साकार होकर भी विलीन हो गई। बहुत प्रयास करने पर भी उसके निर्वासित जीवन में, उसकी विद्रोही वीरता में एक नारी का योग नहीं हो सका। वह कवि भी था—और इसलिए उसके जीवन में नारी थी—और यही उसकी असफलता का केन्द्र है। यहीं से हम लोगों ने उसके जीवन में एक नारी की कल्पना जोड़नी चाही थी। पर देखता हूँ—नहीं हो सका। हाँ आज! मैं उसकी बात एक नए ढंग से सोच रहा हूँ। मैं कहता हूँ—राजकुमार विद्रोही था—और वह विद्रोह करता रहा। फिर उसकी असफलता का प्रश्न क्या? ऐतिहासिक उल्लेख साक्षी हैं; वह जीवन के प्रत्येक क्षण में विद्रोही रहा। यदि उसके जीवन की मान्यता विद्रोह को लेकर ही थी—प्रतिहिंसा के रूप में पुष्यमित्रों की हत्या नहीं—तब यदि वह प्रतिशोध नहीं ले सका—साम्राज्य नहीं स्थापित कर सका—तो यह उसकी असफलता कैसे हो गई?

आज मैं अपने में डूबा हुआ—Reaeroch Room की खिड़की के बाहर शून्य-दृष्टि से देख रहा था—राजकुमार की नारी की कल्पना पूरा करने के लिए मन को बटोरना चाहता था, पर वह पवन के झोंकों के साथ बिखर बिखर जाता था—भाव आ आकर मिट जाते थे—और मैं खोया बैठा था। दूर नीचे उतरती हुई सड़क पर फिर एकाएक मन कुछ ठहरा—यह वही सड़क है जिस पर कल शाम को अपने मन के हलकेपन को झाड़कर आसानी से चढ़ आया था। धीरे धीरे एक घाटी जैसा दृश्य बन गया—उसके द्वार पर राजकुमार और उसकी नारी कल्पना जैसे घोड़ों पर सवार खड़ी हैं। आज नारी की पलकों का गर्व वक्ष के उभार के साथ जैसे और भी व्यक्त हो उठा हो। नारी की भौंहें किंचित कुटिल हुईं—और घनी बरौनियों में आँखें संतरित हो उठीं; गरदन को

कुछ घुमाकर उसने कहा—"तुम पुष्यमित्रों को पराजित करके भी साम्राज्य नहीं स्थापित कर सके राजकुमार ! तुम्हारी वीरता अप्रतिम है; पर यह बौद्ध करुणा—क्षमा—निर्बलता है कायरता है; और इसे तुम नहीं छोड़ सके राजकुमार ! यही तो तुम्हारी असफलता है।"

राजकुमार की मुसकान में करुणा थी और कवित्व भी—"असफलता ! सफलता का मापदंड ही तुम्हारा दूसरा है राजकुमारी ! मैं अन्याय के साम्राज्य का विद्रोही हूँ और फिर विद्रोह में ही तो विद्रोही की सफलता है।"

नारी के स्वर में व्यंग था—"तो फिर लौटना ही पड़ेगा राजकुमार ! निर्बल बंधन को स्वीकार करने जैसी निर्बलता क्या हो सकती है ? लेकिन याद रखना राजकुमार ! पुरुष नारी की कोमल और निर्बल कल्पना करके अपने को धोखा देता आया है और नारी के साथ अन्याय करता आया है। वह नहीं जानता, नारी शक्ति है—जिस शक्ति से बड़े बड़े साम्राज्यों का निर्माण होता है।"

"जाओ कुमारी ! मैं तुम्हें रोकूँगा नहीं। लेकिन तुम भी याद रखना, नारी का सारा महत्त्व—उसका सारा गर्व पुरुष की कल्पना को लेकर ही है। नारी को भ्रम है—उसका आकर्षण, हाँड़-मांस की नारी का आकर्षण पुरुष को सप्राण नहीं कर रहा है। वह तो पुरुष की कल्पना—रचना की ही नारी है जिससे वह गतिशील होता है और उसके छंद-बंधनों की सृजना होती है।...तुम नारी हो ! शक्ति हो। कहती हो साम्राज्य का निर्माण कर सकती हो...तो कुमारी, अपने निर्माण के अनुरूप पुरुष भी खोज लेना। रहा मैं...मैं अपने स्पन्दन के लिए—प्राणों को वहन करने के लिए नारी की कल्पना कर लूँगा—और उसी के सहारे अपनी सृजना चला लूँगा।"

दूर जाती हुई सड़क पर, वसंत की गहरी होती हरियाली में पीपल, पाकर और आम के नए पत्ते झीम उठे। शिरीष की पीताभ हरियाली में कोमल पुष्प मुस्करा उठे—और नीम के सघन लौंगों में

फूलों की सफ़ेद मीठी हँसी छा गई। राजकुमार जैसे उन्हीं के बीच मुसकरा रहा था—और उसकी मुसकान की छिपी हुई वेदना में वह नारी कल्पना विलीन हो गई।

*　　　　　*

पुनश्च :—

अभी उस दिन का पत्र पूरा नहीं हो सका था। क्यों नहीं पूरा कर सका था—जैसे बताना चाहूँ फिर भी बता नहीं सकूँगा। लेकिन इधर जैसे बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। देखता हूँ—वसंत गहरा होकर गंभीर हो गया है। बयार में गरमी अधिक है—पर वह केवल शरीर को छूकर ही निकल जाती है—प्राणों की गहराई तक नहीं पहुँच पाती। पुष्पों के भार से शिरीष और नीम खूब लद गए हैं... सेमर अब झड़ चुका है—केवल खड़ा भुआ उड़ा रहा है। कोयल मंजरीहीन आम्रों के नए पत्रों की सघनता में ही छिपी हुई कूक उठती है। अब Research Room की खिड़की के बाहर जाकर दृष्टि फिर लौट आती है—और मेज़ पर पड़ी हुई पुस्तकों के शिलालेख-चित्रों तथा चारो ओर घेर कर खड़ी हुई बुक-शेल्फ़ों को गहराई से देखती है। देखता हूँ—दो मास पहले जहाँ से छोड़ा था, सब कुछ वहीं से आरंभ कर देना है—जैसे कुछ हुआ ही नहीं। पंखा मन के सम के साथ ही घूम रहा है—पुस्तकों की गंध परिचित लगती है। और जानती हो भाभी—प्रोफ़ेसर साहब कह रहे थे...मैंने व्यर्थ ही उस निर्वासित राजकुमार के पीछे अपने दो मास ख़राब किए हैं। हाँ! सोचता हूँ व्यर्थ ही तो। लेकिन भाभी तुम मानोगी नहीं; और सच बात है कि कुछ 'हुआ' अवश्य है। जब क्षण क्षण मिलकर ही समय फैला हुआ है—तो किसी भी क्षण को जीवन के सत्य से अलग कैसे किया जाय। और भाभी इस सब व्यवस्था में भी लगता है जैसे राजकुमार की स्मृति रहेगी ही। प्रोफ़ेसर साहब के दृष्टिकोण से वह कुछ न भी हो; और मेरे 'काम' का भी उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण न

हो। पर लगता है इस सबको जीवन के प्रति अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अच्छा भाभी! मैं शीघ्र ही आ रहा हूँ। अरुणाभ और किंजलिका ठीक ही कहते हैं—मैं आने आने को लिखता हूँ—पर आता-वाता नहीं। खैर! अब शीघ्र ही एक दिन एकाएक सब को चकित कर दूँगा। और अनूप भाई से तो, उनकी बढ़ती काहिली के लिए जी भर कर झगड़ा करना ही है और उस पर प्रतिबंध भी लगाना है। हाँ भाभी! देखो सहायता करनी होगी—और नहीं तो...। अरुणाभ और किंजलिका को प्यार तथा चुम्बन। भइया को—और तुमको भी—भाभी प्यार। विदा, शीघ्र ही मिलने के लिए।

तुम दोनों के प्यार का
'मयंक'

Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal.
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल